

‘जैनदर्शन’ : पारिभाषिक कोश’ विभिन्न शब्दकोशों की परम्परा में एक अत्यन्त छोटा सा कोश है। इसमें जैन तत्त्वज्ञान, आचार-शास्त्र, कर्मसिद्धांत, भूगोल और पौराणिक चरित्र आदि विषयों से सम्बन्धित पञ्चह सौ शब्दों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है, जो अनेक महत्वपूर्ण और प्रामाणिक जैन ग्रन्थों के आधार पर लिखा गया है।

विशालकाय कोशों की व्युत्पूल्य सामग्री का संचयन करने वाले इस ‘मिनी’ शब्दकोश की महत्ता और उपयोगिता जैन धर्म और दर्शन में रुचि रखने वाले सामान्य पाठकों के लिए अधिक है।

जैनदर्शन

पारिभाषिक-कोश

प्रस्तुति

मुनि क्षमासागर

मूल्य 25

ISBN 81-7628-017-8

प्राप्ति स्थान-

● ज्ञानोदय विद्यापीठ, घोपाल (म प्र)
फोन (0755) 785718, 785723

● गिरफ्ट गार्डेन्स
माधोगज, विदिशा (म प्र)
फोन (07592) 32295

मुद्रक- >

वुकमेन प्रिन्टर्स
दिल्ली-92

फोन 2455684, 2051723

This book is distributed at a reduced price
with the help of few friends

अपने परम गुरु
आचार्य श्री विद्यासागरजी को
सादर समर्पित

प्राक्कथन

यह सच है कि धर्म कुछ शब्दों के अर्थ समझ लेने या कुछ क्रियाओं के दोहरा लेने से समझ में आने वाला नहीं है वह शब्दातीत है। यह भी सच है कि धर्म का रहस्य अनुभव से ही खुलता है। धर्म एक प्रयोग है वह सिर्फ विचारों का जोड़ नहीं है पर क्या कर्सॅ शब्दातीत और अनुभवगम्य धर्म का क ख ग सीखने में शब्द मदद करते हैं और अनुभव की ऊचाईयों छूने के लिए श्रेष्ठ विचारों की ठोस जमीन पर पैर टिकाना पड़ता है, सो जैनदर्शन के अनुभवी आचार्यों के द्वारा कहे गए कुछ शब्दों और उनके भावों का परिचय इस शब्द कोश में सग्रहीत करने का प्रयास कर रहा हूँ। यह कार्य बड़े धेर्य और सतत् श्रुताभ्यास का है। यदि मे अल्पज्ञता और प्रमादवश कहीं चूक गया होऊँ तो सभाल लीजिएगा। कहीं कुछ छूट गया हो तो जोड़ लीजिएगा।

मेरा मन था एक छोटा-सा शब्द कोश इस तरह का हो कि उसं व्यक्ति हमेशा अपने साथ रखे और समय पर तत्काल उससे लाभ ले सके। जैनदर्शन के कुछ शब्द इतने 'यूनिक' और 'टेक्नीकल' हे कि उनका अर्थ विशेष अध्ययन के उपरान्त ही स्पष्ट हो पाता हे। सामान्य पाठक कई बार जैनदर्शन का अध्ययन करते समय या धर्मोपदेश आदि सुनते समय शब्दों का अर्थ स्पष्ट न हो पाने के कारण मुश्किल का अनुभव करता

हे। उसे तत्क्षण अर्थवोध ही सके ओर अध्ययन-चितन-मनन में आसानी हो, इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह लघुतम प्रयास किया है।

लगभग पाच-छह वर्ष तक निरन्तर चिन्तन-मनन और विचार-विमर्श के उपरान्त इस शब्द कोश को प्रस्तुत कर पाया हूँ। इन परिभाषाओं को जानने से यदि धर्म को समझने और अनुमव करने में आसानी हो तो इसे पूर्वाचार्यों की कृपा और उपकार मानिएगा, मैं तो निमित्त मात्र हूँ।

—मुनि क्षमासागर

अ

अकाम-निर्जरा—अपनी इच्छा के विना इन्द्रिय-विषयों का त्याग करने पर तथा परवश होकर भोग-उपभोग का निरोध होने पर उसे शान्ति से सह लेना, इससे जो कर्मों की निर्जरा होती है उसे अकाम-निर्जरा कहते हैं।

अकाल-मृत्यु—विषभक्षण आदि किसी वाह्य कारण के मिलने पर समय से पहले ही आयु का क्षीण हो जाना अकाल-मृत्यु है। इसे कदलीघात-मरण भी कहते हैं।

अकृत्रिम-चैत्यालय—देखिए चैत्यालय।

अक्षमृक्षणवृत्ति—जेसे व्यापारी लोग कीमती सामान से भरी गाड़ी में साधारण सा तेल आदि चिकना पदार्थ डालकर उसे आसानी से ले जाते हैं इसी प्रकार साधु भी रत्नब्रय से युक्त शरीर रूपी गाड़ी में सरस या नीरस आहार डालकर उसे आसानी से मोक्षमार्ग पर ले जाते हैं, इसलिए साधु को यह आहारचर्या अक्षमृक्षणवृत्ति कहलाती है। अक्षिप्र अवग्रह—वस्तु को शने शनै देर से जान पाना अक्षिप्र अवग्रह है।

अक्षीण-महानस ऋद्धि—जिस ऋद्धि के प्रभाव से मुनि के द्वारा आहार ग्रहण कर लेने के उपरान्त उस रसोईघर में बचा शेष आहार अनगिनत लोगों को खिला देने पर भी समाप्त नहीं होता वह अक्षीण-महानस-ऋद्धि कहलाती है।

अक्षीण-महालय ऋद्धि—जिस ऋद्धि के प्रभाव से मुनि के समीप अल्प

स्थान में भी अनगिनत जीव सृखपूर्वक आसानी से बैठ जातं हे वह
अशोण-महालय-बृद्धि कहलाती है ।

अगाढ़—जिस प्रकार वृद्ध पुरुष की लाटी हाथ में रहत हुए भी कापती
रहती है उसी प्रकार अयोपशम सम्यग्दृष्टि जीव सच्चं देव शास्त्र गुरु
की श्रद्धा में स्थित रहते हुए भी सकप्य होता है ओर किसी विशेष
जिनालय या जिनविव के प्रति ‘यह मेरा है’ या ‘यह दूसरे का है’—ऐसा
विचार करता है यह क्षयोपशम सम्यग्दर्थन का अगाढ ठोप
कहलाता है ।

अगुप्ति-भय—जिसमें किसी का प्रवेश आसानी से न हो सके ऐसे स्थान
में जीव निर्भय होकर रहता है लेकिन जो स्थान खुला हो वहा रहने
से जीव को जो भय उत्पन्न होता है उसे अगुप्ति-भय कहते हैं ।

अगुरुलघु-गुण—जिस गुण के निमित्त से द्रव्य का द्रव्यपना सदा वना
रहे अर्थात् द्रव्य का कोई गुण न तो अन्य गुण स्पष्ट हो सके और
न कोड द्रव्य अन्य द्रव्य स्पष्ट हो सके तथा जिसके निमित्त से प्रत्येक
द्रव्य में पटगुणी हानि-बृद्धि होती रहे उसे अगुरुलघु-गुण कहते हैं ।
अगुरुलघु गुण का यह सूक्ष्म परिणमन वचन के अगोचर हे ओर मात्र
आगम प्रमाण से जानने योग्य है ।

अगुरुलघु-नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव न तो लोहपिण्ड के
समान भारी होकर नीचे गिरता है ओर न रुई के समान हल्का होकर
ऊपर उड़ता है वह अगुरुलघु-नामकर्म कहलाता है ।

अगृहीत-मिथ्यात्व—जो परोपदेश के विना मात्र मिथ्यात्व कर्म के उदय
से सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के प्रति अश्रद्धान रूप भाव होता है उसे

अगृहीत- भित्यात्व कहते हैं।

अग्निकाय-अग्निकायिक जीव के द्वारा छोड़ा गया शरीर अग्निकाय कहलाता है।

अग्निकायिक-अग्नि ही जिसका शरीर हे उसे अग्निकायिक कहते हैं।

अग्निचारण ऋद्धि-जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु अग्निशिखा मे स्थित जीवों की विराधना के बिना उन विचित्र अग्निशिखाओं पर से गमन करने मे समर्थ होता है वह अग्निचारण ऋद्धि है।

अग्निजीव-जो जीव अग्निकायिक मे उत्पन्न होने के लिए विग्रहगति मे जा रहा है उसे अग्निजीव कहते हैं।

अग्रायणी पूर्व-जिसमे क्रियावाद आदि की प्रक्रिया ओर स्व-समय का विषय विवेचित है वह अग्रायणी नाम का दूसरा पूर्व है।

अधातिया-कर्म-जो जीव के अनुजीवी गुणों का धात नहीं करते, पर वाह्य शरीराटि से सर्वधित है वे अधातिया कर्म कहलाते हैं। आयु, नाम, गोत्र ओर वेदनीय ये चार अधातिया-कर्म हैं।

अङ्ग-निमित्तज्ञान-मनुष्य व तिर्यचो के अङ्ग और उपाङ्गो को देख कर या छूकर शुभ-अशुभ और सुख-दुख आदि को जान लेना अङ्ग-निमित्तज्ञान है।

अङ्ग-प्रविष्ट-श्रुतज्ञान के आचारादि स्वप एक-एक अवयव को अङ्ग कहते हैं। आचाराङ्ग आदि वारह प्रकार का श्रुतज्ञान अङ्ग-प्रविष्ट कहलाता है।

अङ्गवाह्य-महान् आचार्यों के द्वारा अल्पबुद्धि, अल्पायु और अल्पबल

वाले शिष्यों के अनुग्रह के लिए आचाराङ्ग आदि वारह अङ्गों के आधार पर रच गये संक्षिप्त ग्रंथों को अङ्गवाच्य कहते हैं।

अङ्गर-दोष-साधु यटि अत्यन्त आसक्त होकर आहार ग्रहण करे तो यह अङ्गार-दाप कहलाता है।

अङ्गोपाङ्ग नामकर्म-जिस कर्म के उदय से शरीर के अङ्ग और उपाङ्गों का भेद होता है उसे अङ्गोपाङ्ग-नामकर्म कहते हैं। यह तीन प्रकार का है—औदारिक-शरीर-अङ्गोपाङ्ग, वैक्रियिक-शरीर-अङ्गोपाङ्ग, आहारक-शरीर-अङ्गोपाङ्ग।

अचक्षुदर्शन-चक्षु इन्द्रिय को छोड़कर शेष चार इन्द्रियों और मन के द्वारा वस्तु का ज्ञान होने से पूर्व जो सामान्य प्रतिभास होता है उसे अचक्षुदर्शन कहते हैं।

अचित्त-प्रासुक किए जाने पर जो वस्तु जीव-रहित हो जाती है उसे अचित्त कहते हैं।

अचेलकत्व-वस्त्र आभूषण आदि समस्त परिध्रुव का त्याग करके यथाजात नग्न दिग्म्बर वालकवत् निविकार रूप धारण करना अचेलकत्व कहलाता है। यह साधु का एक मूलगुण है।

अचोर्य-दूसरे की वस्तु को उसकी अनुमति के बिना नहीं लेना अचोर्य है।

अचौर्य-अणुब्रत- 1 स्थूल चोरी का त्याग करना अचोर्य वा अस्तेय-अणुब्रत कहलाता है। 2 जन साधारण के उपयोग में आन वाली मिट्टी, पानी, हवा आदि के अतिरिक्त बिना दी हुई दूसरे की

धन-सप्ति आदि को न स्वयं लेना और न ही दूसरे को देना अचौर्य-अणुव्रत है।

अजितनाथ—द्वितीय तीर्थकर। साकेत नगरी के राजा जितशनु और रानी विजयसेना के पुत्र थे। इनकी आयु बहतर लाख वर्ष पूर्व थी। शरीर चार सौ पचास धनुष ऊचा और तपाये हुए स्वर्ण के समान कान्ति वाला था। आयु का एक चौथाई भाग वीत जाने पर इन्होने राज्य सभाला और एक पूर्वाग तक राज्य करते रहे। एक दिन कमलवन को खिलते व मुरझाते देख कर विरक्त हो गए और पुत्र को राज्य देकर जिनदीक्षा ले ली। वारह वर्ष की कठिन तपस्या के बाद इन्हे केवलज्ञान हुआ। इनके सघ में नब्बे गणधर, एक लाख मुनि, तीन लाख वीस हजार आर्यिकाएं, तीन लाख श्रावक व पाच लाख श्राविकाएं थीं। इन्होने सम्मेदशिखर से मोक्ष प्राप्त किया।

अजीव-द्रव्य—जो चेतना-रहित है वह अजीव द्रव्य है। पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल—ये पाच अजीव-द्रव्य हैं।

अज्ञात-भाव—अज्ञानता या प्रमाद के कारण विना जाने प्रवृत्ति करना
अज्ञात-भाव हैं।

अज्ञान-मिथ्यात्व—हित ओर अहित के विवेक से रहित होना अथवा
'पशुवध धर्म है'—इस प्रकार अहित में प्रवृत्ति कराने वाला जो उपदेश है वह अज्ञान-मिथ्यात्व है।

अज्ञान-परीषह-जय—अत्यत कठोर तपस्या करने के उपरात भी
अवधिज्ञानादि विशेष ज्ञान प्राप्त न होने पर परिणामों में समता रखना अज्ञान-परीषह-जय कहलाता है।

अटाई-दीप-जन्मदीप, धातकी खुड द्वीप और आधा पुक्करवर दीप—ये मिलकर अटाई दीप हैं। मनुष्य का निवास और आवागमन इसी अटाई दीप में होता है डसलिए इसे मनुष्य-लोक भी कहते हैं। इसका विस्तार पतालीस लाख घोजन है।

अणिमा ऋद्धि-शरीर को अणु के वरावर सूक्ष्म बना लेना अणिमा ऋद्धि है। यह देवी को जन्म से ही प्राप्त होती है। तपोवल से मुनियों को भी प्राप्त होती है।

अणुब्रत-हिसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह, इन पाच पापों का स्थूल रूप से त्याग करना अणुब्रत कहलाता है। अणुब्रत पाच है—अहिसाणुब्रत, सत्याणुब्रत, अचोर्याणुब्रत, ब्रह्मचर्याणुब्रत और परिग्रह-परिमाणब्रत।

अण्डज—जो नख को त्वचा के समान कठोर हे गोल है और जिसका आवरण शुक्र और शोणित से बना है उसे अण्ड या अण्डा कहते हैं। अण्ड से उत्पन्न होने वाले जीव अण्डज कहलाते हैं।

अतदाकार-स्थापना—वास्तविक आकार से रहित किसी भी वस्तु में ‘यह वही है—ऐसी स्थापना कर लेना अतदाकार-स्थापना है। जेसे अनगढ़ पत्थर आदि में देवी-देवताओं की कल्पना कर लेना।

अतिचार—ग्रहण किए गए व्रतों में शिथिलता आना या ढोष लगना अतिचार या अतिक्रम कहलाता है।

अतिथि—संयम का पालन करते हुए आहार के लिए आया हुआ साधु अतिथि कहलाता है अथवा जिसके आने की तिथि निश्चित न हो

ऐसे निस्पृही सयमी साधु को अतिथि कहते हैं।

अतिथि-संविभाग—अतिथि के लिए श्रद्धा-भक्तिपूर्वक आहार व औषध आदि देना अतिथि-संविभाग नाम का शिक्षाव्रत है।

अतिशय—तीर्थकर के जन्म आदि के समय जो अलौकिक या असाधारण सुखद घटनाएँ होती हैं उन्हे अतिशय कहते हैं।

अतिशय क्षेत्र—जहा तीर्थकरों के पचकल्याणक हुए हैं अथवा जिस स्थान पर किसी मंदिर या मूर्ति में कोई असाधारण विशेषता है उसे अतिशय क्षेत्र कहते हैं जैसे—अतरिक्ष-पाश्वर्नाथ, श्रीमहावीरजी, गोम्मटेश्वर-बाहुवली आदि।

अत्र-अवतर-अवतर—यहा आये, पधारे। यह पूजा के समय किया जाने वाला आहान है।

अत्राणभय—आत्मरक्षा में समर्थ न होने पर सुरक्षा के अभाव में जो भय उत्पन्न होता है वह अत्राणभय कहलाता है।

अदत्त-ग्रहण—श्रावक के द्वारा विना दिया आहारादि यदि साधु ग्रहण कर ले तो यह अदत्त-ग्रहण नाम का अन्तराय है।

अदन्तधोवन—अद्भुली, नख, दातौन आदि से दातों को घिसने का त्याग करना अदन्तधोवन व्रत कहलाता है। यह साधु का एक मूलगुण है।

अदर्शन-परीषह-जय—दीर्घकाल तक आत्म-साधना करने के उपरात भी ऋद्धि सिद्धि आदि प्रगट न होने पर परिणामों में समता रखना और पोक्षमार्ग के प्रति अवज्ञा का भाव नहीं लाना अदर्शन-परीषह-जय है।

अधर्म-द्रव्य—जो जीव और पुद्रगत को ठहरने में सहायक होता है उसे अधर्म-द्रव्य कहते हैं। यह द्रव्य समूचे लोक में व्याप्त है। यह अचेतन और अस्थी है। इसका काय वृक्ष की छाया की तरह है जो राहगीर को ठहरने में सहायक है।

अध.कर्म—यदि साधु भन वचन काय सं अपने लिए स्वय आहार बनाए, बनवाए या बनाए गए आहार का समर्थन करें और ऐसा आहार ग्रहण कर लें तो यह अध कर्म नाम का दोष है।

अध प्रवृत्तकरण—जहा नीचे के समयवर्ती किसी जीव के परिणाम ऊपर के समयवर्ती किसी जीव के परिणामों के समान होते हैं वहा के परिणामों का नाम अध प्रवृत्तकरण है।

अधिकरण—अधिष्ठान या आधार को अधिकरण कहते हैं।

अधिगमज-सम्यग्दर्शन—वाह्य उपदेशपूर्वक जो सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है वह अधिगमज-सम्यग्दर्शन है।

अधोलोक—समूचा लोक तीन भागों में विभक्त है। लोक का निचला भाग अधोलोक कहलाता है। इसका आकार वेत्रासन के समान है और विस्तार सात राजू है। अधोलोक में नीचे-नीचे क्रमशः रत्नप्रभा, शर्करा-प्रभा, वालुका-प्रभा, पकप्रभा, धूम-प्रभा, तम-प्रभा और महातम प्रभा—ये सात पृथिविया हैं। प्रथम पृथिवी के तीन भाग हैं—खर, पक और अब्बहुल। खरभाग और पकभाग में भवनवासी तथा व्यतर देवों के आवास हैं। अब्बहुल भाग से नारकी जीवों के आवास प्रारम्भ होते हैं जो विल के रूप में हैं। सातों शूमियों में कुल चोरासी लाख विल हैं। इसके नीचे कलकला नामक पृथिवी है जहा

मात्र निगोदिया जीव रहते हैं।

अध्यधिदोष—आहार के लिए साधु को आते देखकर अपनी भोजन-सामग्री में तुरत अधिक जल और चावलादि मिलाकर फिर पकाना और साधु को देना अध्यधिदोष है।

अध्यात्म—1 समस्त रागादि विकल्पों को छोड़कर अपनी निर्मल आत्मा में आचरण करना अध्यात्म है। 2 जिस ग्रथ में अभेद रत्नत्रय की मुख्यता से आत्मस्वरूप का व्याख्यान किया जाता है उसे अध्यात्म शास्त्र कहते हैं।

अध्युव अवग्रह—1 जो यथार्थ ग्रहण निरतर नहीं होता वह अध्युव-अवग्रह है। अर्थात् जैसा प्रथम समय में शब्द आदि का ज्ञान हुआ था आगे वैसा ही नहीं रह पाता, कम या अधिक होता है वह अध्युव-अवग्रह है। 2 विजली, दीपक की लौ आदि अध्युव या अस्थिर वस्तु का ज्ञान होना अध्युव-अवग्रह है।

अनगार—अगार का अर्थ गृह या घर है। अत घर-गृहस्थी के ममत्व से रहित निष्पस्तिही साधु को अनगार कहते हैं।

अनध्यवसाय—गमन करते हुए मनुष्य को जैसे पैरों में तृण आदि का स्पर्श होने पर स्पष्ट मालूम नहीं पड़ता कि ‘क्या लगा’ अथवा जैसे जगल में दिशा भूल जाते हैं उसी प्रकार परस्पर सापेक्ष नयों के अनुसार वस्तु को नहीं जान पाना अनध्यवसाय या विमोह कहलाता है।

अनन्त—निरतर व्यय होने पर भी जो राशि कभी समाप्त न हो उसे अनन्त कहते हैं।

अनन्तकायिक—एक ही साधारण (कॉमन) शरीर में जो अनन्त जीव निवास करते हैं उन्हें अनन्तकायिक-जीव कहते हैं। इन सभी जीवों का जन्म, मरण, आहार और प्रवासोच्छ्रवास आदि सभी क्रियाएं एक साथ होती हैं। मूली, गाजर, अदरक आदि वनस्पतिया अनन्तकायिक होती हैं। (देखिए निगोद)

अनन्त-चतुष्टय—चार वातिया कर्मों के क्षय होने पर जो अनन्त-दर्शन, अनन्त-ज्ञान, अनन्त-सुख और अनन्त-वीर्य रूप चार गुण आत्मा में प्रकट होते हैं उन्हें अनन्त-चतुष्टय कहते हैं।

अनन्त-ज्ञान-ज्ञानावरण-कर्म के क्षय होने से जो सकल चराचर को जानने वाला ज्ञान आत्मा में प्रकट होता है उसे अनन्त-ज्ञान या केवलज्ञान कहते हैं।

अनन्त-दर्शन-दर्शनावरणीय-कर्म के क्षय से जो सकल चराचर का सामान्य प्रतिभास रूप दर्शन गुण आत्मा में प्रकट होता है वह अनन्त-दर्शन या केवलदर्शन है।

अनन्तनाथ—चोदहवे तीर्थकर। इक्ष्वाकु वंश में राजा सिहस्रेन और रानी जयश्यामा के यहा उत्पन्न हुए। इनकी आयु तीस लाख वर्ष और ऊचाई पचास धनुप थी। समस्त शुभ लक्षणों से युक्त इनका शरीर स्वर्ण के समान आभावान था। राज्य करते हुए पद्रह लाख वर्ष बीत जाने पर उत्कापात देखकर ये वेराग्य को प्राप्त हुए और अपने पुत्र को राज्य देकर गृहत्याग कर दीक्षित हों गये। दो वर्ष की तपस्या के उपरान्त इन्हे केवलज्ञान हुआ। इनके समवसरण में पचास गणधर, छ्यासठ हजार मुनि, एक लाख आठ हजार आयिकाएं, दो लाख श्रावक एवं

चार लाख श्राविकाएं थीं। इन्होंने सम्प्रेद-शिखर से मोक्ष प्राप्त किया। अनन्तवीर्य-वीर्यान्तराय कर्म का क्षय हो जाने पर आत्मा में जो अनन्त सामर्थ्य प्रकट होती है उसे अनन्तवीर्य कहते हैं।

अनन्त-सुख-मोहनीय कर्म के क्षय से आत्मा में प्रकट होने वाले अनुपम अतीन्द्रिय-सुख को अनन्तसुख कहते हैं।

अनन्तानुबंधी-कषाय-जो कषाय अनन्त ससार के कारणभूत मिथ्यात्व को वाधती है वह अनन्तानुबंधी कषाय है। इस कषाय के उदय में सम्यग्दर्शन उत्पन्न नहीं होता। यह क्रोध, मान, माया और लोभ—इन चार रूपों में होती है।

अनर्थदण्डविरति—जीवों के द्वारा मन, वचन, काय से होने वाली ऐसी क्रिया या प्रवृत्ति जो उपकारी न होकर मात्र पाप का अर्जन कराती है अनर्थदण्ड कहलाती है, इसका त्याग कर देना अनर्थदण्डविरति नामक गुणव्रत है। अनर्थदण्ड के पाच भेद हैं—पापोपदेश, हिसादान, प्रमादचर्या, अपध्यान और दु श्रुति।

अनाकांक्ष-क्रिया—अज्ञानता और आलस के कारण आगम में कहे गये विधि-विधान का अनादर करना अनाकांक्ष-क्रिया है।

अनाचार—ग्रहण किए गए व्रत या प्रतिज्ञा का भग होना अनाचार है।

अनात्मभूत-लक्षण—जो वस्तु के स्वरूप में मिला हुआ न हो, उसे अनात्मभूत-लक्षण कहते हैं। जैसे—टोपी पहने हुए पुरुष का लक्षण टोपी।

अनादि-मिथ्यादृष्टि—जिस जीव ने अनादि काल से अभी तक सम्यगदर्शन प्राप्त ही नहीं किया उसे अनादि-मिथ्यादृष्टि कहत है।

अनादेय-नामकर्म—जिस कर्म के उदय से निष्ठ्रम शरीर प्राप्त होता है वह अनादेय-नामकर्म है अथवा जिस कर्म के उदय से अच्छा कार्य करने पर भी गोरव प्राप्त न हो वह अनादेय-नामकर्म है।

अनाभोग-क्रिया—विना शोधन किए और विना देखे असावधानी पूर्वक भूमि पर सोना, उठना-बेठना आदि अनाभोग-क्रिया है।

अनायतन—सम्यगदर्शन आदि गुणों के आधार या आश्रय को आयतन कहते हैं और इनसे विपरीत मिथ्यादर्शन आदि के आश्रय या आधार को अनायतन कहते हैं।

अनाहारक—जिन जीवों के औदारिक आदि शरीर की रचना के योग्य पुद्गल-स्कंधों का ग्रहण नहीं होता वह अनाहारक कहलाते हैं। विग्रहगति मे स्थित चारों गति के जीव केवलि समुद्घात की प्रतर और लोकपूरण अवस्था मे स्थित सयोग-केवली, अयोग-केवली और सिद्ध भगवान—ये सब अनाहारक होते हैं।

अनि सृत अवग्रह—वस्तु के किसी एक भाग को देखकर उस वस्तु को पूर्णत जान लेना अनि सृत अवग्रह कहलाता है। जैसे—पानी मे झूंडे हाथी की सूड देखकर पूरे हाथी का ज्ञान होना।

अनित्यानुप्रेक्षा—यह शरीर, इन्द्रिया और भोग-उपभोग की समस्त सामग्री क्षणभगुर है पर मोहवश अज्ञानी जीव उसे नित्य या शाश्वत मानकर सुखी-दुखी होता रहता है। इस नश्वर शरीर आदि से ममत्व छोड़कर शाश्वत आत्मा का बार-बार चित्तन करना अनित्यानुप्रेक्षा है।

अनिवृद्ध-भंगल-किसी भी ग्रथ के प्रारम्भ में ग्रथकार के द्वारा भगवान को नमस्कार तो किया गया हो पर उसे किसी श्लोक आदि के रूप में लिपिवृद्ध न किया गया हो तो यह अनिवृद्ध-भंगल है।

अनिवृत्तिकरण-जिस विशिष्ट आत्म-परिणाम के द्वारा जीव मिथ्यात्म की ग्रथि को भेदकर सम्यग्-दर्शन प्राप्त करता है वह अनिवृत्तिकरण कहलाता है।

अनिवृत्तिकरण-गुणस्थान-जिस गुणस्थान में विवक्षित किसी एक समय में विद्यमान सब जीवों के परिणाम परस्पर समान हो वह अनिवृत्तिकरण नामक नौवा गुणस्थान है।

अनिष्ट (अभक्ष्य)-जिनके सेवन से वात, पित्त, कफ आदि विकार उत्पन्न हो वे पदार्थ अनिष्टकर होने से अभक्ष्य हैं।

अनिष्टसंयोगज-आर्तध्यान-अप्रिय वस्तु या व्यक्ति के सयोग से निरत चिन्तित या दुखी रहना अनिष्टसंयोगज-आर्तध्यान है।

अनिसृष्ट-गृहस्वामी आहार दान की इच्छा करे और अन्य लोग मना करे तो दिया गया आहार अनिसृष्ट दोष से युक्त है।

अनिस्सरणात्मक-तैजस-जीव के औदारिक शरीर में रोनक लाने वाला अनिस्सरणात्मक तैजस शरीर है। यह अन्न-पान आदि को पचाने में सहायक होता है और औदारिक आदि शरीर के भीतर स्थित रहता है।

अनिह्व-जिस गुरु या शास्त्र से ज्ञान प्राप्त किया है उसका नाम नहीं छिपाना अनिह्व है।

अनुकम्पा-दूसरे की पीड़ा से द्रवित हो जाना अनुकम्पा कहलाती है।

अनुकृत-विना कहे अभिप्राय मात्र से वस्तु को जान लेना अनुकृत-अवग्रह है। जैसे—वीणा के तार सभालते समय ही जान लेना कि ‘इसके द्वारा यह राग वजाया जायेगा’।

अनुजीवी-गुण-द्रव्य मे विद्यमान भाव रूप गुणों को अनुजीवी गुण कहते हैं, जैसे—जीव मे विद्यमान ज्ञान, दर्शन, चेतना आदि गुण और पुद्गल के स्पर्श, रस, रूप आदि गुण।

अनुत्तरोपपादिक-दशाङ्क—प्रत्येक तीर्थकर के काल मे भीषण उपसर्गों को सहन करके वैमानिक देव के रूप मे अनुत्तर विमानों मे उत्पन्न होने वाले दश-दश महामुनियों के चरित्र का जिस शास्त्र मे वर्णन किया जाता है उसे अनुत्तरोपपादिक-दशाङ्क कहते हैं।

अनुपचरित-असद्भूत व्यवहार—सश्लेष सहित वस्तुओं के सबध को बताने वाला अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय है। यह वस्तु को जानने का एक ऐसा दृष्टिकोण है जिसमे पृथक वस्तुओं के बीच होने वाले सश्लेष सबध को दृष्टि मे रखकर कथन किया जाता है जैसे ‘यह जीव का शरीर है’ या ‘यह मेरा शरीर है’।

अनुपचरित-सद्भूत व्यवहार—शुद्ध गुण व शुद्ध गुणी मे भेद का कथन करना अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय है। यह वस्तु को जानने का ऐसा दृष्टिकोण है जिसमे एक ही शुद्ध द्रव्य के आश्रित रहने वाले गुणों को उसी द्रव्य अर्थात् गुणी से भेद करके कथन किया जाता है जैसे ‘केवल ज्ञान आदि जीव के गुण हैं’—ऐसा कहना।

अनुपवास—जल को छोड़कर शेष सभी प्रकार के आहार का त्याग करना अनुपवास है या गृह सबधी कार्य करते हुए जो उपवास किया

जाता है उसे भी अनुपवास कहते हैं।

अनुपसेव्य—ब्यवहार-धर्म को मलिन करने वाली जो वस्तुए सज्जन पुरुषों के द्वारा सेवन करने योग्य नहीं है वे अनुपसेव्य कहलाती हैं। जैसे—गाय का मलमूत्र, लार, कफ, जूठन, शख-भस्म आदि।

अनुप्रेक्षा—1 ससार, शरीर और भोग सामग्री के स्वभाव का बार-बार चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है। अनित्य, अशरण, ससार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्था, सवर, निर्जरा, लोक, वोधिदुर्लभ और धर्म—ये बारह अनुप्रेक्षाए हैं। यही बारह भावना भी कहलाती हैं। 2 जाने हुए अर्थ का मन मे अध्यास करना अनुप्रेक्षा नाम का स्वाध्याय है।

अनुभय-मन-वचन—सत्य और असत्य दोनो प्रकार के निर्णय से रहित पदार्थ को जानने या कहने मे जीव के मन वचन की प्रयत्न रूप प्रवृत्ति को अनुभय-मन-वचन योग कहते हैं। जैसे—‘यह कुछ है’—ऐसा जानना या कहना।

अनुभाग-बन्ध—कर्म के फल देने की सामर्थ्य को अनुभव या अनुभाग कहते हैं। ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का जो कषायादि परिणाम जनित शुभ-अशुभ फल है वह अनुभाग बंध है। वह जिस कर्म का जैसा नाम है उसके अनुरूप होता है।

अनुमति त्याग-प्रतिमा—परिग्रह त्याग नामक नवमी प्रतिमा धारण करने के उपरात अपने परिवारजनों को या अन्य जनों को सासारिक कार्यों के सबध मे अनुमति अर्थात् सलाह आदि नहीं देने की प्रतिज्ञा करना, यह श्रावक की दसरीं अनुमति-त्याग-प्रतिमा कहलाती है।

तो जीव की शेष आयु का पुन दो तिहाई भाग बांत जान पर दूसरा अवसर आता हे । इस प्रकार भुज्यमान आयु की समाप्ति होने तक नवीन आयु वधने के आठ अवसर होते हे, यहाँ अपकर्ष कहलाते हे । अपकर्षण-कर्मों की स्थिति और अनुभाग का मट जाना अपकर्षण कहलाता हे ।

अपध्यान-व्यर्थ ही दूसरे जीवों के प्रति वाधने-मारने स्पष्ट खोटे विचार मन मे लाना अपध्यान नाम का अनर्थदण्ड हे ।

अपरिग्रह-अतरग मे ममत्व-भाव का ऊंर वाटा मे धन-पैसा, स्त्री, पुत्र आदि समस्त परिग्रह का त्याग कर देना अपरिग्रह हे ।

अपरिणत-तिल, चावल आदि के धोने का जल, गग्म होकर ढूँड हुआ जल या हरड, लोग आदि चूर्ण से परिणत नहीं हुआ जल गाध को देना अपरिणत दोष हे ।

अपर्याप्तक-देखिए पर्याप्तक

अपर्याप्तनाम-जिस कर्म के उदय से जीव अपने योग्य पर्याप्तियों को पूर्ण नहीं कर पाते वह अपर्याप्त नामकर्म हे ।

अपवाद-मार्ग-यद्यपि मोक्षमार्ग मे समता-भाव की साधना ही प्रमुख है परन्तु शरीर की स्थिति बनाए रखने के लिए साधु को आहार, विहार आदि भी आवश्यक हे । अत समता-भाव की साधना मे कठोर आचरण का पालन करना उत्सर्ग-मार्ग कहलाता हे । उत्सर्ग-मार्ग मे निवृत्ति प्रमुख हे तथा विशेष परिस्थिति मे शरीर की रक्षा के लिए मृदु आचरण करना अपवाद-मार्ग हे । यह अपवाद-मार्ग शुद्धोपयोग

रूप उत्सर्ग-मार्ग म सहायक आहार, विहार, पठन-पाठन आदि शुभ-प्रवृत्ति रूप है।

अपाय-विचय—‘ससारी जीव मिथ्यामार्ग से केसे बचे’—इस प्रकार निरतर चितन करना अथवा जिनेन्द्र भगवान के द्वारा बताए गए सन्मार्ग का निरतर चितन करना अपाय-विचय या उपाय-विचय नामक धर्मध्यान है।

अपूर्वकरण—मोहनीय कर्म का उपशम या क्षय करने वाले जीव के अन्तर्मुहूर्त तक प्रति समय जो अत्यत विशुद्ध अपूर्व परिणाम होते हैं वह अपूर्वकरण है।

अपूर्वकरण-गुणस्थान—मोहनीय कर्म का उपशम या क्षय करके जो जीव उपशम या क्षपक श्रेणी चढ़ते हैं उस समय जिस गुणस्थान में सभी जीवों के अपूर्व परिणाम होते हैं वह अपूर्वकरण नामक आठवा गुणस्थान है।

अप्रतिधात-ऋद्धि—जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधुजन पर्वत, शिला, वृक्ष आदि के आरपार गमन करने में सक्षम होते हैं वह अप्रतिधात ऋद्धि कहलाती है।

अप्रतिष्ठित-प्रत्येक—देखिए प्रत्येक वनस्पति।

अप्रत्याख्यान-क्रिया—त्याग करने का भाव नहीं होना अप्रत्याख्यान क्रिया है।

अप्रत्याख्यानावरण कषाय—जिसके उदय में जीव देशसंयम अर्थात् अनुव्रत धारण नहीं कर पाता वह अप्रत्याख्यानावरण कषाय कहलाती

है। यह क्रोध-मान-माया-लोभ इन चारों रूपों में रहती है।

अप्रमत्त-संयत-जो साधु व्यक्त और अव्यक्त रूप समस्त प्रकार के प्रमाद से रहित है और रत्नत्रय से युक्त होकर निरतर आत्म-ध्यान में लीन रहते हैं वे अप्रमत्त-संयत कहलाते हैं। अप्रमत्त-संयत के दो भेद हैं—स्वस्थान-अप्रमत्त और सातिशय-अप्रमत्त। जो साधु उपशम या क्षपक श्रेणी चढ़ने के सम्मुख है वे सातिशय-अप्रमत्त संयत कहलाते हैं, शेष साधु स्वस्थान-अप्रमत्त-संयत कहलाते हैं।

अप्रशस्त-निदान—तीव्र अहकार से प्रेरित होकर अपनी तपस्या के फलस्वरूप भविष्य में उत्तम कुल, जाति, रूप और भोग-उपभोग की कामना करना अप्रशस्त निदान कहलाता है।

अप्रशस्त-निःसरणात्मक-तैजस—वारह योजन लम्बे, नौ योजन छोड़े, सूच्युगल के सख्यातवे भाग मोटे, रक्तवर्ण वाले, पृथिवी व पर्वतादि समस्त वस्तुओं को जला कर नष्ट करने में समर्थ और साधु के वाये कन्धे से प्रगट होकर अभीष्ट स्थान तक फैलने वाले तैजस शरीर को अप्रशस्त- नि सरणात्मक-तैजस कहते हैं। यह अशुभ तैजस शरीर किसी कारणवश क्रोध के वशीभूत हुए तपस्वी साधु के शरीर से क्रोधाग्नि की तरह निकलता है।

अप्रशस्त-राग—भौतिक सुख-सुविधा की सामग्री के प्रति राग बढ़ाने वाली कथा या बातचीत करने में मन लगाए रहना अप्रशस्त-राग है।

अप्रथक्-विक्रिया—अपने शरीर को सिंह, हिरण, हस, वृक्ष आदि अनेक रूपों में परिवर्तित करने की सामर्थ्य होना अप्रथक् या एकत्व-विक्रिया कहलाती है। यह सामर्थ्य देव व नारकी जीवों में जन्म से ही पायी

जानी र नगा मनुगा म तप आर्दि के फलम्बलप प्राप्त होती है।

अभव्य-नो वस्तुग मनुष्या के लाने वाय नहीं है ऐसी अवाद्य वस्तुआ सा अभव्य करने रे। अभव्य वस्तुग पाव प्रकार की है—व्रसवात्, एषादयधर्म, वर्गान, अनिष्ट, अनुपमेव्य।

अभवदान-एर्गीमाव नो भुगा और पेम टकर आश्वस्त करना अभवदान करनाता है।

अभव्य-जा नार्ही भी नगाव क दुला से छटकर माव सुख प्राप्त नहीं है भग महग एवं जाव अभव्य करलाते हैं।

अभाव-नाम्भन मे वस्तु का गर्वया अभाव नहीं माना गया, भावान्तर ग्रभाव नप ही अभाव माना गया है। ज्ञमे—मिथ्यात्व पवाय के अभाव का गम्भज्ञ पर्याय नप मे पतिभास होता है। अभाव चार प्रकार का ह—प्रागभाव, पच्चसाभाव, अन्योन्याभाव ओर अत्यन्ताभाव। किसी द्रव्य की वतमान पर्याय का पूर्व पर्याय मे अभाव होना प्रागभाव है। आगामी पर्याय मे वतमान पर्याय का अभाव होना प्रच्चसाभाव है। एक द्रव्य को एक पर्याय का उसकी दूसरी पर्याय मे अभाव होना अन्योन्याभाव है। एक द्रव्य मे दूसरे द्रव्य का अभाव होना अत्यन्ताभाव कहलाता है।

अधिनन्दन नाय—चोथे तीर्थकर। डक्खाकुवश मे राजा स्वयवर ओर रानी सिद्धार्था के यहा उत्पन्न हुग। इनकी आयु पचास लाख वर्ष पूर्व ओर ऊचाई तीन सो पचास धनुप थी। सप्तस्त शुभ लक्षणों से युक्त इनका शरीर स्वर्ण के समान आभावान था। राज्य करते हुए साढे छत्तीस लाख वर्ष पूर्व काल वीत जाने पर एक दिन अचानक

पंथों का विखरना देखकर इन्हे वैराग्य हो गया और इन्होंने जिनदीक्षा ले ली। अठारह वर्ष की मौन तपस्या के उपरात इन्हे केवलज्ञान हुआ। इनके समवसरण में एक सो तीन गणधर, तीन लाख मुनि, तीन लाख तीस हजार छ सो आर्यिकाएं, तीन लाख श्रावक और पाँच लाख श्राविकाएं थीं। इन्होंने सम्मेदशिखर से मोक्ष प्राप्त किया।

अभिन्नदशपूर्वी—यारह अङ्गों का अध्ययन पूर्ण होने के उपरात विद्यानुवाद नामक दसवं पूर्व को पढ़ते समय महाविद्याओं के पाच मां और लघु-विद्याओं के सात सो देवता आकर सेवक की तरह उपस्थित हो जाते हैं। उस समय किसी भी प्रलोभन में न पड़कर जो साधु दशवं पूर्व का अध्ययन पूर्ण कर लेते हैं वे अभिन्नदशपूर्वी कहलाते हैं।

अभिषेक—जिन-प्रतिमा के स्नपन या प्रक्षालन को अभिषेक कहते हैं। इगमना मूल उद्देश्य अपने आत्म-परिणामों की निर्मलता है।

अभिदत्त—यदि एक पवित्र में स्थित तीन या सात घरों को छोड़कर अन्य किसी घर से आये हुए अन्नादि को साधु ग्रहण कर लेता है तो यह अभिदत्त दोष है।

अभीक्षण-ज्ञानोपयोग—अभीक्षण का अर्थ सदा या निरतर है। जीवादि तत्त्वविषयक सम्बद्धान के अध्यास में निरतर लगे रहना अभीक्षण-ज्ञानोपयोग है। यह सौलह-कारण भावना में से एक भावना है।

अभोज्य-गृहप्रवेशन—यदि आहार के लिए जाते हुए साधु का चाण्डाल आदि अपेक्षित जनों के घर में प्रवेश हो जाता है तो यह अभोज्य गृहप्रवेशन नामक अन्तराय है।

अभूट-दूषित- अभूट दूषित का अर्थ है वयार्य दूषित। अनेक प्रकार के भन-मनानंग में गन्य-अगन्य का निषय करके मांह गहत यगाच-दूषित गाना अभूट दूषित नामक गुण है। यह मध्यदर्शन का एक आदेश है।

अभूत-जिमन स्पष्ट, स्मृति, गद्य और मार्ग- ये चारों गुण नहीं पाए जाते उम भयन या अन्धा फूलने हैं। पद्मगन्त द्रव्य का लाडकर शेष पाच द्रव्य भयन या अन्धा हैं।

अभूतसावी ऋद्धि-जिन क्रिंदि के पश्चात स माघु के हाथ में रखा गया रक्ता सुखा आहार अभूत के समान भरस आर गुणकारी हो जाता है अथवा जिमन पश्चात से माघु के वचन अभूत के समान हितकारी हो जाते हैं उन अभूतसावी ऋद्धि कहते हैं।

अमेच्य-यदि आहार के लिए जाते हुए साधु के पर अपवित्र मत्त मूत्र आदि से निष्प्र हों जाते हैं तो यह अमेच्य नाम का अन्तराय है।

अयश-कोर्ति-जिस कम के उदय से किसी जीव के विद्यमान या अविद्यमान अवगुणों की चर्चा लोक में होने लगती है उसे अयश-कोर्ति-नामकर्म कहते हैं।

अयोग-केवली-जिन-तेरहवे गुणस्थानवर्ती सयोगकेवली भगवान जब अपने जीवन के अंतिम क्षणों में विशुद्ध ध्यान के द्वारा मन-वचन-काय की समस्त क्रियाओं का निरोध कर देते हैं तब योग से रहित इस अवस्था में वे अयोग-केवली-जिन कहलाते हैं। यह अंतिम चोदहवा गुणस्थान है।

अयोध्या-जम्बूद्वीप में आर्यखड के कोशल देश की एक नगरी। यह नगरी सरयू नदी के किनारे इन्द्र द्वारा प्रथम तीर्थकर आदिनाथ के पिता नभिराय और माता मरुदेवी के लिए रची गयी थी। सुकोशल देश में स्थित होने से इसे सुकोशला और विनीत लोगों की निवासस्थली होने से इसे विनीता भी कहा गया है। इसके सुयोजित निर्माण कौशल के कारण इसे शत्रु जीत नहीं सकते थे इसलिए इसे अयोध्या कहा गया। सुदर भवनों के निर्माण के कारण इसे साकेत भी कहा जाता था। यह नी योजन चौड़ी, वारह योजन लम्बी और अडतालीस योजन विस्तार वाली थी। सभी तीर्थकर सामान्यत अयोध्या में ही जन्म लेते हैं परन्तु काल के प्रभाव से वर्तमान चौबीसी में कुछ तीर्थकरों का जन्म अन्यत्र भी हुआ।

अरति-जिस कर्म के उदय में देश, काल आदि के प्रति उत्सुकता नहीं होती है उसे अरति कहते हैं।

अरति-परीष्ठह-जय-जो साधु विषय-भोग की सामग्री के प्रति उदासीन है, जो गीत, नृत्य वादित्र आदि से रहित अप्रिय लगने वाले शिला गुफा आदि स्थानों में रहकर भी ध्यान अध्ययन में लीन है और देखे, सुने, अनुभव में आए भोगों का स्मरण आने पर भी समता भाव रखते हैं उनके यह अरति-परीष्ठह-जय है।

अरनाथ-अठारहव तीर्थकर एव सातवे चक्रवर्ती। सोमवशी राजा सुदर्शन और रानी मित्रसेना के यहा जन्म लिया। इनकी आयु चोरासी हजार वर्ष थी। शरीर तीस धनुष ऊचा और स्वर्ण के समान आभा वाला था। चक्रवर्ती होने के कारण इनके छयानवे हजार रानिया और

विष्णु वधमव था । श्राव-क्रत् के मना का अकस्मात् विलय होते दखुकर इन्हें वैगम्य हुआ आर भपन पुत्र को राज्य देकर इन्हाँ जिनदीदा न ले । गानह वथ सो झटिन तपम्बा के उपरान्त इन्हे कंवलज्ञान हुआ । उनके माध्यमरण में नोंस गणघर, पचास हजार मुर्छि, साठ हजार आविस्तार, एक लाख भाठ हजार श्रावक एवं तीन लाख श्राविकाएँ थीं । उन्हाँने गम्भीर-धिगुर में मांक पाप्त किया ।

अद्य-पवार्य-जो गृह्य है, शब्दों के द्वाग नहीं कर्ने जा सकती आर जो दण्डाण में वर्तनती है वह अद्य-पवाय है । वह प्रत्येक द्रव्य में प्रतिद्वग होना चाही है ।

अर्थ-सम्पद-कर्यन के निर्मित में शात हुए समस्त पदार्थों के समूह को अर्थ-सम्पद होना है ।

अर्व-नाम्यदर्शन-आगम को पढ़े बिना ही उसमें प्रतिपादित अर्थ या भाव को जानकर जो सम्पदर्शन होता है उस अर्थ-सम्पदर्शन कहते हैं ।

अर्याचार-शास्त्र में कह गए अनेकात् स्वरूप को ठीक-ठीक समझना अद्याचार या अर्थ शुद्धि है ।

अर्यावग्रह-देखिए अवग्रह ।

अर्द्धनाराच-सहनन-जिस कर्म के उदय से शरीर में हड्डियों की संधिया परस्पर नाराच अर्थात् कोल के द्वारा आधी ही जुड़ी होती है वह अर्द्ध-नाराच सहनन नामकर्म कहलाता है ।

अर्द्ध-पुद्गल-परावर्तन-देखिए द्रव्य-परिवर्तन

अर्हन्त-जो वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी है वे अर्हन्त परमेष्ठी कहलाते हैं। अर्हन्त परमेष्ठी तीन लोक में पूज्य होते हैं।

अर्हद्-भक्ति-अर्हन्त भगवान के प्रति जो गुणानुराग रूप भक्ति होती है वह अर्हद्-भक्ति कहलाती है। अथवा अर्हन्त भगवान के द्वारा कहे गए धर्म के अनुरूप आचरण करना अर्हद्-भक्ति कहलाती है। यह सोलह कारण भावना में एक भावना है।

अलाभ-परीषह-जय-जो साधु कई दिनों तक आहार प्राप्त न होने पर अलाभ की स्थिति में भी समता-पूर्वक ध्यान-अध्ययन में लीन रहते हैं और अलाभ की स्थिति को कर्मनिर्जरा का कारण मानकर सतोष धारण करते हैं उनके यह अलाभ-परीषह-जय हैं।

अलोक-लोकाकाश के बाहर सब और जो अनन्त आकाश है उसे अलोक या अलोकाकाश कहते हैं। अलोकाकाश में एकमात्र आकाश द्रव्य है शेष पाच द्रव्य नहीं हैं।

अल्पबहुत्व-परस्पर हीनाधिकता को अल्पबहुत्व कहते हैं। जैसे—‘यह इसकी अपेक्षा अल्प है’ और ‘यह अधिक है’ इत्यादि। इसके द्वारा क्षेत्रादि की अपेक्षा भेद को प्राप्त हुए जीव आदि की परस्पर संख्या विशेष को जाना जाता है।

अवगाढ़ सम्यग्दर्शन-द्वादशाग के साथ अङ्ग-बाह्य का अध्ययन करके जो दृढ़ सम्यग्दर्शन होता है उसे अवगाढ़ सम्यग्दर्शन कहते हैं।

अवगाहन-सभी द्रव्यों को अवकाश (स्थान) देना, यह आकाश का अवगाहन गुण है।

अवगाहना—१ जीवों के शरीर की ऊचाई, लम्बाई आदि को अवगाहना कहते हैं। २ आत्मप्रदेश में व्याप्त करके रहना अवगाहना है। यह दो प्रकार की है—जघन्य और उलूष्ट। जैसे—कर्मभूमि के मनुष्य की जघन्य अवगाहना $3\frac{1}{2}$ हाथ और उलूष्ट ५२५ घनुष।

अवग्रह—इन्द्रिय और पदार्थ का सबध होने पर जो पदार्थ का प्रथम ग्रहण या ज्ञान होता है वह अवग्रह कहलाता है। जैसे—आख के द्वारा ‘यह सफेद है’ ऐसा ज्ञान होना। अवग्रह दो प्रकार का है—व्यजनावग्रह और अर्थावग्रह। व्यक्त ग्रहण से पहले-पहले व्यजनावग्रह होता है और व्यक्त ग्रहण का नाम अर्थावग्रह है। जैसे—माटी का नया घड़ा जल की दो तीन बूदे सींचने पर गीला नहीं होता और पुन एक सींचने पर धीरे धीरे गीला हो जाता है इसी प्रकार श्रोत्र आदि इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण किए गए शब्द आदि पहले व्यक्त नहीं होते किन्तु पुन पुन ग्रहण होने पर व्यक्त हो जाते हैं। व्यजनावग्रह इन्द्रियों के ग्रहण करने के योग्य क्षेत्र में पदार्थ के स्थित होने पर ही होता है अत चक्षु और मन से नहीं होता, शेष चारो इन्द्रियों से होता है। अर्थावग्रह पाचो इन्द्रिय और मन के द्वारा होता है। ~

अवधिज्ञान—जो द्रव्य, क्षेत्र, काल आदि की सीमा में रहकर मात्र रूपी पदार्थों को प्रत्यक्ष जानता है वह अवधिज्ञान है। अवधिज्ञान के तीन भेद है—देशावधि, सर्वावधि और परमावधि। देशावधि के अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान, हीयमान, अवस्थित और अनवस्थित—ऐसे छह भेद हैं। देशावधि-ज्ञान भव-प्रत्यय और गुण-प्रत्यय दोनो प्रकार का होता है। सर्वावधि और परमावधि यह दोनो गुण-प्रत्यय हैं।

अवधिदर्शन—अवधिज्ञान से पहले जो रूपी पदार्थों का सामान्य

प्रतिभास होता है उसे अवधिदर्शन कहते हैं।

अवमौदर्य—जो जिसका स्वाभाविक आहार है उससे कम आहार ग्रहण करने की प्रतिज्ञा करना अवमौदर्य-तप है।

अवर्णवाद—गुणवान बड़े पुरुषो में जो दोष नहीं है उन मिथ्या दोषो को उनमें दिखाना अवर्णवाद कहलाता है। केवली, श्रुत, सघ, धर्म और देवो का अवर्णवाद—यह पांच प्रकार का अवर्णवाद है।

अवसन्न—जैसे कीड़ मे फसे हुए और मार्गश्राष्ट पथिक को अवसन्न कहते हैं वैसे ही ज्ञान और आचरण से भ्रष्ट मुनि को अवसन्न कहते हैं।

अवसर्पिणी—जिस काल मे जीवो की आयु, वल और ऊचाई आदि क्रम-क्रम से घटते जाते है उसे अवसर्पिणी काल कहते है। इसके सुषमा-सुषमा, सुषमा, सुषमा-दुषमा, दुषमा-सुषमा, दुषमा और दुषमा-दुषमा—ऐसे छह भेद है। इन्हे पहले, दूसरे, तीसरे, चौथे, पाचवे और छठे काल के नाम से भी जाना जाता हे।

अवाय—विशेष निर्णय द्वारा वस्तु का जो यथार्थ ज्ञान होता है उसे अवाय कहते हे। जैसे—पखो के उठने गिरने आदि को देखकर ‘यह बगुलो की पक्कित है ध्वजा नहीं है’—ऐसा निर्णय करना।

अविनेय—जिसमे सच्चे धर्म को सुनने व ग्रहण करने का गुण नहीं है वह अविनेय है।

अविपाक-निर्जरा—जिस प्रकार आम, केला आदि को अधिक उष्णा देकर समय से पहले पका लिया जाता है उसी प्रकार कर्म को तप आदि के द्वारा समय से पहले अनुभव मे ले लिया जाता है यह अविपाक

निर्जरा है। अविपाक निर्जरा सम्यग्दृष्टि व्रती के ही होती है।

अविभाग-प्रतिच्छेद—शक्ति अश को अविभाग-प्रतिच्छेद कहते हैं। यह जड़ व चेतन सभी द्रव्यों में देखे जाते हैं। जैसे—सबसे कम अनुभाग से युक्त परमाणु के किसी एक गुण को बुद्धि के द्वारा ग्रहण करके तब तक छेद दिया जाए जब तक कि उससे आगे और विभाग न हो सके, इस विभाग-रहित अश को अविभागी-प्रतिच्छेद कहते हैं।

अविरत-सम्यग्दृष्टि—जो व्रत आदि से रहित है किन्तु सच्चे देव-शास्त्र-गुरु पर श्रद्धा रखता है वह चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव अविरत-सम्यग्दृष्टि है।

अविरति—व्रतों को धारण न करना अविरत है। या अव्रत रूप विकारी परिणाम का नाम अविरति है। पाच स्थावर और त्रस इन छह प्रकार के जीवों की दया न करने से और पाच इन्द्रिय व मन के विषयों से विरक्त न होने से अविरति बारह प्रकार की है।

अशरणानुप्रेक्षा—मन्त्र, तत्र, औषध आदि कोई भी मरण के समय प्राणी की रक्षा नहीं कर सकते, अमर कहे जाने वाले स्वर्ग के देव भी आयु समाप्त होने पर मरण को प्राप्त होते हैं। इस ससार में जन्म और मरण के दुखों से यदि कोई वचा सकता है तो वह एक मात्र वीतराग-धर्म है, धर्म की शरण ही श्रेष्ठ है, शेष कोई शरण नहीं है, इस प्रकार बार-बार चिन्तन करना अशरण-अनुप्रेक्षा है।

अशुचित्व-अनुप्रेक्षा—यह शरीर अत्यन्त अपवित्र है, स्नान और अन्य सुगोंधित पदार्थों से भी इसकी अशुचिता अर्थात् मलिनता को दूर कर पाना सभव नहीं है किन्तु यदि जीव चाहे तो रत्नत्रय की भावना के

द्वारा शरीर से भिन्न अपनी आत्मा की शुचिता को प्रगट कर सकता है, इस प्रकार बार-बार चिन्तन करना अशुचित्व-अनुप्रेक्षा है।

अशुभ तैजस-देखिए अप्रशस्त नि सरणात्मक तैजस ।

अशुभ-नामकर्म-देखिए शुभ नामकर्म ।

अशुभोपयोग—जिसका उपयोग विषय-कषाय में मग्न है, कुशुति, कुविचार और कुसगति में लगा हुआ है, उग्र है और उन्मार्गगमी है उसके यह अशुभोपयोग है।

अश्रुपात—आहार के समय पीड़ावश साधु के आसु आ जाने पर या किसी कारण से दाता के आसु आने पर अश्रुपात नामक अन्तराय होता है।

अष्ट-द्रव्य—उत्तम जल, चन्दन, अखण्डित चावल, सुगंधित पुष्प, नैवेद्य, सुगंधित धूप, दीप और फल—ये पूजा के अष्टद्रव्य कहलाते हैं।

अष्टम-पृथिवी—लोक के शिखर पर एक राजु चौड़ी, सात राजु लम्बी और आठ योजन ऊची अष्टम पृथिवी है। इसके मध्य मे अत्यत उज्ज्वल छत्र के समान ईषतप्राणभार नाम का क्षेत्र है जिसका विस्तार मनुष्य लोक के बराबर है। यह सिद्धो का आवास स्थान है और अष्टम-पृथिवी से 7050 धनुष ऊपर स्थित है।

अष्ट-मगल-द्रव्य—छत्र, चमर, ध्वजा, झारी, कलश, ठौना, दर्पण ओर बीजना—ये आठ मागलिक द्रव्य हे जिनसे पाण्डुकशिला और समवसरण के गोपुर शोभित होते रहते हे।

अष्टमूलगुण- १ मध्य, मधु और मास का त्याग करना और पाच अणुव्रतों का पालन करना—ये श्रावक के अष्टमूलगुण हे। २ मध्य, मधु, मास का त्याग करना यह श्रावक के अष्टमूलगुण हे। ३ मध्य, मधु, मास का त्याग, रात्रि-भोजन व उदुम्बर फलों का त्याग तथा देवदर्शन, जीव-दया और जलगालन—ये आठ श्रावक के मूलगुण माने गये हे।

अष्टाङ्ग-निमित्तज्ञान- द्विए निमित्तज्ञान।

अष्टापद- यह केलाश पर्वत का दूसरा नाम है। यह भगवान ऋषभदेव की निर्वाणभूमि हे। इस पर्वत पर सगर चक्रवर्ती के साठ हजार पुत्रों ने स्वर्णमय जिनालय बनाने के लिए दण्डरत्न से आठ पादस्थान बनाकर इसकी भूमि खोदना प्रारंभ किया था इसलिए इसका नाम अष्टापद प्रसिद्ध हुआ।

अष्टाहिक-पूजा- देवों के द्वारा नन्दीश्वर-द्वीप मे प्रत्येक वर्ष आषाढ़, कार्तिक और फाल्गुन मास मे अष्टमी से लेकर पूर्णिमा तक आठ दिन निरतर भक्तिपूर्वक जो जिनेन्द्र प्रतिमाओं की पूजा की जाती हे, उसे अष्टाहिक-पूजा कहते है।

असत्य-मन-वचन- असत्य पदार्थ जैसे मरीचिका का जल आदि के विषय मे जानने या कहने मे जीव के मन और वचन की प्रयत्न रूप प्रवृत्ति को असत्य-मन-वचन योग कहते हैं।

असद्भूत-व्यवहार-नय- भिन्न वस्तुओं के बीच सबध को बताने वाला असद्भूत व्यवहार नय है। जैसे—कर्म के निमित्त से होने वाली मनुष्यादि पर्यायि, रागादि विकारी भाव और बाह्य वस्तुओं से सबध

का कथन करना असद्भूत व्यवहार नय का विषय है। इसके दो भेद हैं—अनुपचरित असद्भूत और उपचरित असद्भूत।

असंख्यात—गणनातीत राशि असंख्यात कहलाती है।

असंज्ञी—बिना मन वाले जीव असंज्ञी कहलाते हैं। ये शिक्षा, उपदेश आदि ग्रहण करने में असमर्थ होते हैं। असंज्ञी, असैनी और अमनस्क ये एकार्थवाची हैं।

असंप्राप्तासृपाटिका-सहनन—जिस कर्म के उदय से शरीर में हड्डिया परस्पर मात्र नसों के द्वारा जुड़ी रहती है वह असंप्राप्तासृपाटिका-सहनन नामकर्म कहलाता है।

असातावेदनीय—जिस कर्म के उदय में जीव अनेक प्रकार के दुख का वेदन करता है उसे असातावेदनीय-कर्म कहते हैं।

अस्तिकाय—जो बहुप्रदेशी है वे अस्तिकाय कहलाते हैं। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश—ये पाच अस्तिकाय हैं।

अस्तित्व—प्रत्येक द्रव्य की अनादि-अनन्त सत्ता ही उसका अस्तित्व गुण है। यह द्रव्य का सामान्य गुण है।

अस्तिनास्ति-प्रवाद-पूर्व—जिसमें पाच अस्तिकायों का और विविध नयों का अस्ति, नास्ति आदि अनेक पर्यायों के द्वारा वर्णन किया गया है वह अस्ति-नास्ति-प्रवाद-पूर्व नाम का चौथा पूर्व है।

अस्थिर-नामकर्म—जिस कर्म के उदय से थोड़ी भी भूख-प्यास की बाधा होने पर तथा सर्दी या गर्मी की अधिकता होने पर शरीर में दुर्बलता का अनुभव होता है उसे अस्थिर-नामकर्म कहते हैं।

अस्तान-ब्रत-जीवन भर स्तान न करने की प्रतिज्ञा लेना अस्तान-ब्रत है। यह साधु का एक मूलगुण है।

अहिंसा-मन, वचन, काय से किसी भी जीव को नहीं मारना अहिंसा है।

अहिंसाणुब्रत-स्थूल या सकल्पी हिंसा का त्याग करना अहिंसाणुब्रत है।

आ

आकस्मिक-भय—अचानक आ जाने वाली विपत्ति की आशका से जीवों को जो भय उत्पन्न होता है वह आकस्मिक-भय है।

आकाश द्रव्य—जो समस्त द्रव्यों को अवकाश अर्थात् स्थान देता है उसे आकाश द्रव्य कहते हैं। इसके दो भेद हैं—लोकाकाश और अलोकाकाश।

आकाशगता-चूलिका—आकाश में गमन करने की विद्या एवं जप तप आदि का वर्णन करने वाली चूलिका को आकाशगता चूलिका कहते हैं।

आकाशगामित्व ऋद्धि—जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु सुखासन से बैठें-बैठे या खड़े रहकर बिना डग भरे आकाश में गमन कर सकते हैं उसे आकाशगामित्व या आकाशगामिनी-ऋद्धि कहते हैं।

आकाश-चारण ऋद्धि—जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु, जीवों को बाधा न पहुंचे इस तरह चलते हुए भूमि से चार अङ्गुल ऊपर आकाश में गमन कर सकते हैं उसे आकाश-चारण ऋद्धि कहते हैं।

आकिञ्चन्य धर्म—समस्त परिग्रह का त्याग करके ‘कुछ भी मेरा नहीं है’—इस प्रकार का निर्लोभ भाव रखना आकिञ्चन्य धर्म है।

आक्रोश-परीषह-जय—क्रोध बढ़ाने वाले, अत्यत अपमानजनक, कर्कश और निन्द्यनीय वचनों को सुन कर जो साधु विचलित नहीं होते और सामर्थ्यवान होकर भी उसे शान्त-भाव से सहन करते हैं

उनके यह आक्रोश-परीषहन्जय है ।

आक्षेपिणी कथा—जिनेन्द्र भगवान् द्वारा कहे गए तत्त्वों का कथन करने वाली आक्षेपिणी कथा है ।

आगम—जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहे गए हितकारी वचन ही आगम है । आगम, सिद्धान्त और प्रवचन—ये एकार्थवाची हैं ।

आग्नेयी-धारणा—पार्थिवी-धारणा के उपरात योगी निश्चल अभ्यास से अपने नाभि-मडल मे सोलह पत्तों से युक्त कमल का ध्यान करे फिर उस कमल की कर्णिका मे महामन्त्र हूँ का तथा सोलह पत्तों पर ऊ आ इ ई उ ऊ ऋ ऋ लृ लृ ए ऐ ओ औ ऊ ऊ —इन सोलह अक्षरों का ध्यान करे, फिर महामन्त्र हूँ की रेफ से मद-मद निकलती धुए की शिखा का विचार करे, फिर निकलती हुई चिनगारियो और अग्नि की लपटो का चिन्तवन करे । फिर योगी मुनि अपने हृदय मे स्थित आठ पत्तो के कमल पर लिखे आठ कर्मों को उस अग्नि की ज्वाला मे निरतर जलता हुआ चितन करे । उस कमल के जलने के उपरात शरीर के बाह्य मे चारो ओर त्रिकोण अग्नि का चिन्तवन करे । यह बाहर का अग्निमडल अतरण की मन्त्राग्नि को जलाता है और उस नाभिकमल और शरीर को नष्ट करके धीरे-धीरे शात हो जाता है । ऐसा चिन्तवन करना आग्नेयी धारणा है ।

आचाम्ल—काजी या माड सहित केवल भात के आहार को आचाम्ल कहते हैं ।

आचाराङ्ग—जिसमे पाच समिति, तीन गुप्ति आदि रूप मुनिचर्या का वर्णन किया गया है वह आचाराङ्ग है ।

आचार्य-१ जो स्वयं साधु के योग्य आचरण करते हैं और अन्य साधुओं से भी यथायोग्य आचरण कराते हैं वे आचार्य हैं। २ साधुओं को शिक्षा-टीक्षा देने वाले, उनके दोषों का निवारण करने वाले तथा अनेक विशिष्ट गुणों से युक्त सधनायक साधु को आचार्य कहते हैं।

आचार्य-भक्ति-आचार्यों के प्रति जो गुणानुराग रूप भक्ति होती है उसे आचार्य-भक्ति कहते हैं। यह सौलह कारण भावना में एक भावना है।

अच्छेद्य-दोष-राजा, मन्त्री आदि का भय दिखाकर यदि साधु आहार प्राप्त करे तो यह अच्छेद्य नाम का दोष है।

आजीव दोष-अपनी जाति, कुल आदि की विशेषता बताकर यदि साधु आहार प्राप्त करे तो यह आजीव नाम का दोष है।

आज्ञाविचय-‘जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्रतिपादित आगम ही सत्य है’—ऐसा चिन्तन करना अथवा जिनवाणी को प्रमाण मानकर सात तत्त्व, छह द्रव्य, पाच अस्तिकाय आदि के स्वरूप का विचार करना आज्ञाविचय नाम का धर्मध्यान है।

आज्ञा-व्यापादिकी-क्रिया-शास्त्रोक्त आज्ञा का पालन न कर सकने के कारण उसका अन्यथा प्रखण्डण करना आज्ञा-व्यापादिकी-क्रिया है।

आज्ञा-सम्यग्दर्शन-जिनेन्द्र भगवान् की आज्ञा को प्रधान मानकर जो सम्यग्दर्शन होता है उसे आज्ञा-सम्यग्दर्शन कहते हैं।

आतप-जो सूर्य आदि के निमित्त से उष्ण प्रकाश होता है उसे आतप कहते हैं।

आतप-नामकर्म—जिस कर्म के उदय से शरीर में आतप उत्पन्न होता है वह आतप नामकर्म है। सूर्य के विमान आदि में तथा सूर्यकान्त मणि आदि पृथिवीकाय में आतप जानना चाहिए। अग्नि मूलत उष्ण होती है परंतु आतप-नामकर्म के उदय से सूर्य के बिब आदि मूलत शीतल होते हैं मात्र किरणे उष्ण होती हैं।

आत्म-प्रवाद—जिसमें आत्म द्रव्य का और छह प्रकार के जीव समूहों का अस्ति-नास्ति आदि विभिन्न प्रकार से निष्पण किया गया है वह आत्म-प्रवाद पूर्व नाम का आठवा पूर्व है।

आत्मभूत लक्षण—जो वस्तु के स्वरूप में निहित हो अर्थात् उससे पृथक न किया जा सके उसे आत्मभूत-लक्षण कहते हैं। जैसे—अग्नि में उष्णता या जीव में चेतना।

आत्मा—जो यथासभव ज्ञान, दर्शन, सुख आदि गुणों में वर्तता या परिणमन करता है वह आत्मा है। आत्मा की तीन अवस्थाएँ हैं—बहिरात्मा, अतरात्मा और परमात्मा।

आदान-निक्षेपण-समिति—पुस्तक, पीछी, कमण्डलु आदि उपकरण जो ज्ञान व सयम में सहायक है उन्हे देखभालकर और शोधन करके रखना तथा उठाना आदान-निक्षेपण समिति है। यह साधु का एक मूलगुण है।

आदिनाथ—युग के प्रारम्भ में हुए प्रथम तीर्थकर। ये कुलकर नाभिराय और उनकी रानी मरुदेवी के पुत्र थे। अयोध्या इनकी जन्मभूमि और राजधानी थी। इनका शरीर स्वर्ण की तरह आश्रावान और पाच सौ धनुष ऊचा था। चक्रवर्ती भरत और कामदेव वाहुबली इनके पुत्र

थे। ब्राह्मी और सुदरी इनकी बेटिया थीं। कर्मभूमि के प्रारथ मे प्रजा को अहिसा-प्रधान जीवन-पद्धति सिखलाने के अभिप्राय से इन्होने असि, मषि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प इन षट्कर्मों का उपदेश दिया। इनकी आयु चौरासी लाख वर्ष पूर्व थी। बीस लाख वर्ष पूर्व का समय कुमार अवस्था मे व्यतीत करके तिरेसठ लाख वर्ष पूर्व काल तक राज्य किया और एक दिन स्वर्ग की देवी नीलाजना का राजदरवार में नृत्य करते-करते अकस्मात् मरण होता देखकर ससार से विरक्त हो गए। जिनदीक्षा लेकर ४ माह तक ध्यानस्थ रहे फिर ४ माह तक साधु के योग्य आहार-विधि जानने वालों का अभाव होने से आहार का योग नहीं लगा, इस तरह एक वर्ष तक निराहार रहने के उपरात राजा श्रेयास के यहा प्रथम आहार हुआ। एक हजार वर्ष की कठिन तपस्या के उपरात केवलज्ञान प्राप्त हुआ और समवसरण मे सभी जीवों का कल्याण करने वाली दिव्य-ध्वनि खिरने लगी। आपके चतुर्विधि संघ मे चौरासी गणधर, वीस हजार केवलज्ञानी, बीस हजार ४ सौ विक्रिया-ऋच्छिधारी, इतने ही विपुलमति मन पर्यय ज्ञानी और अन्य भुनि थे, पचास हजार आर्थिकाएं, तीन लाख श्रावक ओर पाच लाख श्राविकाएं थीं। आपने कैलाश पर्वत से मोक्ष प्राप्त किया।

आदेय-नामकर्म—१. जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर प्रभायुक्त होता है उसे आदेय-नामकर्म कहते हैं। २. जिस कर्म के उदय से जीव के वहुमान्यता उत्पन्न होती है वह आदेय नामकर्म कहलाता है।

आधिकरणिकी किया—हिसा के साधनों या उपकरणों को ग्रहण करना आधिकरणिकी किया हे।

आनुपूर्वी-नामकर्म—जिस कर्म के उदय से एक गति से दूसरी गति में जाते हुए जीव के पूर्व शरीर का आकार नष्ट नहीं होता है वह आनुपूर्वी नामकर्म हे। आनुपूर्वी नामकर्म के उदय से ही जीव का अपनी इच्छित गति में गमन होता है। यह चार प्रकार का हे—नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, मनुष्यगत्यानुपूर्वी और देवगत्यानुपूर्वी।

आप्त—वीतराग, सर्वज्ञ ओर हितोपदेशी अर्हन्त-भगवान आप्त कहलाते हे।

आवाधा—कर्म का बन्ध होने के पश्चात् वह तुरत ही उदय में नहीं आता बल्कि कुछ समय बाद परिपक्व होकर उदय में आता हे। अत जीव के साथ वधे हुए कर्म जितने काल तक उदय या उदीरणा के योग्य नहीं होते उस काल को अवाधा कहते हें। आयु कर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों की एक कोडाकोडा सागर की स्थिति होने पर आवाधा सौ वर्ष की होती हे।

आभ्यन्तर-तप—जिससे मन का नियमन हो वह आभ्यन्तर-तप हे। प्रायशिच्छ, विनय, वेयावृत्त्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग—ये छह आभ्यन्तर-तप हे।

आमर्ष-ओषधि-ऋद्धि—जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु के स्वर्ण मात्र से जीव निरोगी हो जाते है उसे आमर्ष-ओषधि-ऋद्धि कहते हे।

आम्नाय—उच्चारण की शुद्धिपूर्वक पाठ को पुन पुन दुहराना आम्नाय नाम का स्वाध्याय हे।

आयतन—सम्यग्दर्शन आदि गुणों के आधार या आश्रय को आयतन कहते हे। सच्चे देव, शास्त्र, गुरु और इन तीनों के उपासक—ऐसे

छह आयतन हैं।

आयु-कर्म—जिस कर्म के उदय से जीव मनुष्य आदि भव धारण करता है उसे आयु-कर्म कहते हैं। नरकायु, तिर्यचायु, देवायु और मनुष्यायु—ये चार भेद आयुकर्म के हैं।

आरम्भ—1 जीवों को पीड़ा पहुंचाने वाली प्रवृत्ति करना आरभ है।
2 कार्य करने लगना सो आरभ है।

आरम्भ-त्याग-प्रतिमा—सातवीं ब्रह्मचर्य प्रतिमा धारण करने के उपरात जीवन पर्यन्त नौकरी, खेती, व्यापारादि आरभ नहीं करने की प्रतिज्ञा लेना, यह श्रावक की आरम्भ-त्याग नामक आठवीं प्रतिमा है।

आरम्भी-हिंसा—गृहस्थी सबधी कार्य करने में जो हिसा होती है उसे आरम्भी-हिसा कहते हैं।

आराधना—सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इन चारों का यथायोग्य रीति से उद्योतन करना, इन्हे दृढ़तापूर्वक धारण करना, इनके मद पड़ जाने पर पुन यागृत करना और इनका जीवन भर पालन करना आराधना कहलाती है।

आर्जव-धर्म—1 कुटिल भाव को छोड़कर सरल हृदय से आचरण करना आर्जव-धर्म कहलाता है। 2 मन, वचन और काय की क्रज्जुता अर्थात् सरलता का नाम आर्जव है।

आर्तध्यान—इष्ट वियोग आदि के निमित्त से निरतर पीड़ा या दुख रूप परिणाम होना आर्तध्यान है। यह चार प्रकार का है—इष्टवियोगज, अनिष्ट सयोगज, वेदना और निदान।

के जिस परिणाम या भाव से सूक्ष्म पुद्गल परमाणु कर्म रूप होकर आत्मा मे आते है उस परिणाम या भाव को भावास्थव कहते है और सूक्ष्म कर्म रूप पुद्गलों का आना द्रव्यास्थव कहलाता है। साम्परायिक आस्थव और ईर्यापथ आस्थव ऐसे दो भेद भी आस्थव के हैं।

आस्थव-अनुप्रेक्षा-आत्मा मे निरतर होने वाला कर्मों का आस्थव सासार को बढ़ाने वाला और दुख रूप हे तथा इन्द्रिय, कषाय और अस्यम रूप होने से अहितकर है। इस प्रकार आस्थव के दोषों का बार-बार चिन्तन करना आस्थवानुप्रेक्षा है।

आहार-दान-श्रद्धा-भक्तिपूर्वक प्रासुक अन्न आदि आहार सुपात्र को देना आहार-दान कहलाता है।

आहारक-जो जीव औदारिक आदि तीन शरीरों मे से उदय को प्राप्त किसी एक शरीर के योग्य पुद्गतो का ग्रहण करता हे वह आहारक कहलाता है।

आहारक-शरीर-छठवे गुणस्थानवर्ती प्रमत्त सयत साधु सूक्ष्म तत्त्व के विषय मे जिज्ञासा होने पर जिस शरीर के द्वारा केवली भगवान के पास जाकर जिज्ञासा का समाधान करते हें उसे आहारक-शरीर कहते है।

आहारक-समुद्घात-सूक्ष्म तत्त्व के विषय मे जिसे कुछ जिज्ञासा उत्पन्न हुई हे उन परम ऋषि के मस्तक मे से मूल शरीर से सपर्क बनाए रखकर एक हाथ ऊचा सफेद रंग का सर्वांग सुदर पुतला निकलकर अत्तर्मुहूर्त मे जहा कहीं भी केवली भगवान को देखता हे वहा जाकर उनके दर्शन मात्र से ऋषि की जिज्ञासा का समाधान पाकर

पुन अपने स्थान में लौट आता है इसे आहारक- समुद्रधात कहते हैं।

आहार-सज्जा-अन्नादि आहार ग्रहण करने की इच्छा होना आहार-
सज्जा है।

आह्वानन-आमत्रण । भावो की एकाग्रता के लिए पूजा के प्रारंभ में
जिनेन्द्र भगवान को हृदय में आमंत्रित करते हैं, उसी के प्रतीक रूप
पुष्पक्षेपण करना आह्वानन कहलाता है।

इ

इडिगनी-मरण-शास्त्र में कहो गई विधि के अनुरूप क्रमशः आत्मर का त्याग करक स्वार्थित रहकर दूसरे के द्वारा वंयवृत्ति आदि नहीं करात हुए जो समाधि ली जाती है वह इडिगनी-मरण नाभक सल्लाइना है। इस प्रकार की सल्लाखना लेने वाल साधु उत्तम साहनन के थारे होते हैं।

इच्छाकार-ऐलक, धुलक आदि उच्चृष्ट शायक व शाविषा के प्राप्ति आदर पकट करना इच्छाकार कहलाता है।

इनर-निगोद-जिन्होंने त्रय पदाय पहन कर्मा पायी २ मिर पन निगार म उत्पन्न हुा ३, ऐसे जीव चतुर्गति निगार या इतर-निगार कहलात है।

प्रात काल भगवान महावीर का निर्वाण हुआ उसी दिन सध्याकाल इन्हे केवलज्ञान हुआ। केवलज्ञान होने के बारह वर्ष बाद इन्हे मोक्ष प्राप्त हुआ।

इन्द्रिय—जो सूक्ष्म आत्मा के अस्तित्व का ज्ञान कराने में सहायक है उसे इन्द्रिय कहते हैं। शरीरधारी जीवों को ज्ञान के साधन रूप स्पर्शन आदि पाच इन्द्रिया कही गयी हैं। इन्द्रिया अपने-अपने निश्चित विषय को ही जान पाती है, जैसे—आख मात्र रूप को जानती है वह रस को नहीं जान पाती। स्पर्शन, रसना, ग्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाच इन्द्रिया हैं। ये पाचों इन्द्रिया द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय दोनों रूप में होती हैं।

इन्द्रिय-जय—पाचों इन्द्रियों को ज्ञान, वेराग्य और उपवास आदि के द्वारा वश में रखना इन्द्रिय-जय कहलाता है। यह पाचों इन्द्रियों के भैद से पाच प्रकार का है। यह साधु का मूलगुण है।

इन्द्रिय-सयम—देखिए सयम।

इन्द्रिय-सुख—साता वेदनीय आदि पुण्य कर्म के उदय से जो इन्द्रिय जनित सुख प्राप्त होता है उसे इन्द्रिय-सुख कहते हैं।

इष्ट-वियोगज-आर्तध्यान—स्त्री, पुत्र और धन आदि प्रिय वस्तु या व्यक्ति का वियोग होने पर उनके लिए निरतर चिन्तित या दुखी होना इष्ट-वियोगज नाम का आर्तध्यान कहलाता है।

इहलोकभय—‘इस भव मे लोग न मालूम मेरा क्या बिगाड करेगे’—ऐसा भय बना रहना इहलोक भय है।

ई

ईर्यापथक्रिया—ईर्या का अर्थ गति या गमन हे अत ईर्यापथ की कारणभूत क्रिया ईर्यापथ-क्रिया हे ।

ईर्यापथ-आस्रव—उपशान्त कषाय, क्षीण कषाय और सयोग-केवली भगवान के कषाय का अभाव हो जाने से मात्र योग के द्वारा आए हुए कर्म सूखी दीवार पर पड़ी धूल के समान तुरन्त झड जाते हे बधते नहीं है यह ईर्यापथ-आस्रव कहलाता है ।

ईर्या-समिति—प्राणियो को पीड़ा न होवे ऐसा विचार कर जो प्रासुक मार्ग से दिन मे चार हाथ आगे देखकर सावधानी पूर्वक अपने कार्य के लिए साधु का आना-जाना होता है वह ईर्या-समिति हे । यह साधु का एक मूलगुण है ।

ईर्ष्या—दूसरो के उत्कर्ष (वढती) को न सह सकना ईर्ष्या हे ।

ईशित्व ऋद्धि—जिससे साधु को सारे जगत पर प्रभुत्व करने की शक्ति प्राप्त हो वह ईशित्व-ऋद्धि हे ।

ईश्वर—केवलज्ञान आदि स्पष्ट ऐश्वर्य को प्राप्त करने वाले अहन्त ओर सिद्ध परमात्मा ईश्वर कहलाते हे ।

ईहा-मतिज्ञान—अवग्रह के द्वारा जाने गये पदार्थ के विषय मे विशेष जानने की डच्छा या जिज्ञासा को ईहा कहते हे । जेसे—यह सफेद हे, तो क्या हे, वगुला है या ध्वजा हे ।

उ

उक्तावग्रह—दूसरे के द्वारा कहे जाने पर वस्तु को जानना उक्तावग्रह है। जैसे ‘यह घड़ा है’—ऐसा कहने पर घड़े को जानना।

उग्रतप—जो साधु दीक्षा के दिन एक उपवास करके पारणा करता है फिर जीवन पर्यंत एक उपवास और पारणा रूप तप करता है अथवा जो साधु एक उपवास के बाद पारणा करके दो उपवास करता है फिर पारणा करके तीन उपवास करता है इस प्रकार एक अधिक वृद्धि के साथ जीवन पर्यंत उपवास करता है वह उग्रतप या उग्रोग्रतप ऋद्धि का धारी है।

उच्चगोत्र कर्म—जिस कर्म के उदय से जीव का लोक पूजित कुलो में जन्म होता है वह उच्चगोत्र कर्म है। गोत्र, कुल, वश और सन्तान—ये सब एकार्थवाची हैं।

उच्चार—आहार करते समय साधु के उदर से किसी रोग के कारण उच्चार अर्थात् मल निकल आने पर उच्चार नाम का अन्तराय होता है।

उच्छ्वास-नामकर्म—सास लेने को उच्छ्वास और सास छोड़ने को नि श्वास कहते हैं। जिस कर्म के निमित्त से जीव उच्छ्वास और नि श्वास रूप किया करने में समर्थ होता है उसे उच्छ्वास-नामकर्म कहते हैं।

उत्कर्षण—कर्मों की स्थिति ओर अनुभाग में वृद्धि होना उत्कर्षण कहलाता है।

उत्तमार्थ-प्रतिक्रमण—समाधिमरण लेते समय जीवन भर हुए दोषों का स्परण करके गुरु के सम्मुख आलोचना पूर्वक जो प्रतिक्रमण किया जाता है वह उत्तमार्थ-प्रतिक्रमण कहलाता है।

उत्तर-कुरु—यह विदेह क्षेत्र में स्थित शाश्वत उत्तम-ओग भूमि है। इसके उत्तर दिशा में नील पर्वत, दक्षिण में सुमेरु, पूर्व में मात्यवान और पश्चिम में गन्धमादन गजदत पर्वत स्थित है।

उत्तराध्ययन—जिसमें अनेक प्रकार के उत्तरों का वर्णन है जैसे—चार प्रकार के उपसर्ग कैसे सहन करना चाहिए? बाईंस प्रकार के परीष्ठ सहन करने की विधि क्या है? इत्यादि प्रश्नों के उत्तर का वर्णन किया गया है वह उत्तराध्ययन है।

उत्पाद-द्रव्य का अपनी पूर्व अवस्था को छोड़कर नवीन अवस्था को प्राप्त करना उत्पाद कहलाता है।

उत्पाद-पूर्व—जीव, पुद्गल आदि का जहा जब जैसा उत्पाद होता है उस सबका वर्णन जिसमें हो वह उत्पाद-पूर्व नाम का पहला पूर्व है।

उत्सर्ग-मार्ग—देखिए अपवाद-मार्ग।

उत्सर्पिणी—जिस काल में जीवों की आयु बढ़ ओर ऊचाई आदि का उत्तरोत्तर विकास होता है, उसे उत्सर्पिणी काल कहते हैं। इसके दुष्मा-दुष्मा, दुष्मा, दुष्मा-सुष्मा, सुष्मा-दुष्मा, सुष्मा और सुष्मा-सुष्मा ऐसे छह भेद हैं।

उद्वर-फल—ऊमर, कठूमर, पाकर, वड, पीपल आदि वृक्षों के फल, उद्वर-फल कहलाते हैं। ये त्रस जीवों के उत्पत्ति स्थान हैं इसलिए

अभक्ष्य है अर्थात् खाने योग्य नहीं हे।

उदय-द्रव्य, क्षेत्र, काल और भव के अनुरूप कर्मों के फल का प्राप्त होना उदय कहलाता हे।

उदरक्रिमिनिर्गम-आहार करते समय साधु के उदर से किसी रोगवश कृपि आदि निकल आने पर उदरक्रिमिनिर्गम नाम का अन्तराय होता है।

उदराग्नि-प्रशमन-जैसे अपने घर मे लगी हुई अग्नि को गृहस्थायी किसी भी प्रकार से बुझाने का प्रयत्न करता है उसी प्रकार साधु भी सरस या नीरस ऐसा भैद किए विना श्रावक के द्वारा दिए गए प्रासुक आहार से उदराग्नि को शान्त करता है अत साधु की यह आहार चर्चा उदराग्नि प्रशमन कहलाती है।

उदीरणा-अपक्व अर्थात् नहीं पके हुए कर्मों को पकाना उदीरणा हे। दीर्घ काल वाद उदय मे आने योग्य कर्म को अपकर्षण करके उदय मे लाकर उसका अनुभव कर लेना यह उदीरणा है।

उद्दिष्ट-आहार-दाता ओर पात्र की अपेक्षा उद्दिष्ट आहार दो प्रकार का है। दाता यदि अध कर्म सवधी सोलह उद्गम दोषो से युक्त आहार साधु को देता हे तो यह दाता सवधी उद्दिष्ट आहार है। यदि पात्र अर्थात् साधु अपने लिए स्वय आहार बनाए, बनवाए या आहार के उत्पादन सवधी किसी प्रकार का विकल्प करे तो यह पात्र सवधी उद्दिष्ट आहार कहलाता है।

उद्दिष्टाहार-त्याग-प्रतिमा-दसरी अनुमति त्याग प्रतिमा के उपरान्त

गृहत्याग करके जीवन पर्यन्त उद्दिष्ट आहार का त्याग कर देना और सदाचारी श्रावक के द्वारा दिया गया प्राप्तुक आहार दिन मे एक बार ग्रहण करने की प्रतिज्ञा लेना, यह श्रावक की ग्यारहवीं उद्दिष्ट-आहार-त्याग-प्रतिमा कहलाती है। इसे धारण करने वाले उत्तम श्रावक को ऐलक और क्षुल्लक कहा जाता है।

उद्धिन्न-दोष—बहुत समय से सील-बद करके रखी गई धी शक्कर आदि आहार सामग्री साधु के आने पर तुरत खोलकर देना उद्धिन्न नाम का दोष है।

उद्यमी-हिसा—खेती या अन्य उद्योग-धधो मे होने वाली हिसा को उद्यमी-हिसा कहते हैं।

उद्योत-नामकर्म—उज्ज्ञाता रहितं प्रकाश को उद्योत कहते हैं। जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर मे उद्योत होता है वह उद्योत नामकर्म है। यह चद्रमा, चद्रकात मणि और जुगनू आदि मे होता है।

उन्मिश्रदोष—अप्राप्तुक जल, फल, बीज आदि से मिश्रित आहार साधु को देना उन्मिश्र दोष है।

उपकरण-दान—पिच्छी, कमण्डलु और शास्त्र आदि मोक्षमार्ग मे सहायक उपकरण श्रद्धापूर्वक सद्वापात्र को देना उपकरण-दान कहलाता है।

उपकल्की—देखिए कल्की।

उपगूहन—मोक्षमार्ग पर चलने वाले साधक के द्वारा अज्ञानतावश या असमर्थतावश यदि कोई गलती हो जाती है तो उसे ढक लेना या

यथासभव उसे दूर करना उपगूहन कहलाता है। यह सम्यग्दृष्टि का एक गुण है।

उपधात-नामकर्म—जिस कर्म के उदय से शरीर के अङ्ग-उपाङ्ग स्वयं उसी जीव के लिये कष्टप्रद या घातक हो जाते हैं वह उपधात-नामकर्म है। जेसे—विशाल तोद वाला पेट या वारहसिंग के बड़े-बड़े सींग।

उपचरित-असद्भूत-व्यवहार—सश्लेष रहित वस्तुओं के संवध को वताने वाला उपचरित-असद्भूत व्यवहार नय है। यह वस्तु को जानने का एक ऐसा दृष्टिकोण है जिसमें सश्लेष से रहित सर्वथा भिन्न वस्तुओं के बीच स्वामित्व आदि की अपेक्षा संवध का कथन किया जाता है जेसे—‘यह देवदत्त का धन है’ या ‘यह मेरा मकान है’।

उपचरित-सद्भूत-व्यवहार—सोपाधि गुण और गुणी में भेद का कथन करना उपचरित सद्भूत व्यवहार नय है। यह वस्तु को जानने का एक ऐसा दृष्टिकोण है जिसमें कर्मोपाधि से युक्त द्रव्य के आश्रित रहने वाले गुणों को उस द्रव्य अर्थात् गुणी से प्रथक् कथन किया जाता है जेसे—जीव के मतिज्ञान आदि गुण हैं—ऐसा कहना।

उपचार-विनय—आचार्य आदि पूज्य पुरुषों के आने पर स्वयं उठकर खड़े हो जाना, हाथ जोड़ना और उनके पीछे चलना यह उपचार-विनय है। उपचार विनय तीन प्रकार की है कायिक-विनय, वाचिक-विनय और मानसिक-विनय।

उपदेश-सम्यक्त्व—तीर्थकर आदि महापुरुषों के जीवन चरित्र को सुनकर जो सम्यग्दर्जन होता है उसे उपदेश-सम्यक्त्व कहते हैं।

उपधान—शास्त्र-स्वाध्याय प्रारभ करते समय उस शास्त्र के पूर्ण होने तक विशेष नियम या व्रत धारण करना उपधान नाम का ज्ञानाचार हे।

उपपाद—देव व नारकी जीवों के उत्पत्ति स्थान को उपपाद कहते हे। देवलोक मे देवों का उपपाद-स्थान ढकी हुड़ शश्या के समान होता हे, जहा जीव अतर्मुहूर्त मे सुदर शरीर की रचना कर लेता है। नारकी जीव पाप के उदय से ऊट के मुख की आकृति वाले विल के समान उपपाद स्थान मे अत्यत कष्टपूर्वक जन्म लेते है।

उपभोग—जीवों के द्वारा जो वस्तु वार-बार भोगी जा सकती है उसे उपभोग कहते है। जैसे—वस्त्र-आभूषण, वाहन, आवास आदि।

उपभोगान्तराय—जिस कर्म के उदय से जीव वस्त्र, आभूषण आदि उपभोग की इच्छा करता हुआ भी उपभोग नहीं कर सकता उसे उपभोगान्तराय कर्म कहते हे।

उपमा-सत्य—जो उपमा सहित हो अर्थात् जिसमे किसी वस्तु की उपमा या समानता अन्य वस्तु से की गई हो वह वचन उपमा-सत्य है। जैसे—मुख को चद्रमा के समान कहना। इसी प्रकार पल्योपम, सामरोपम आदि काल को मापने के जो उपमा-भाष हे वह भी उपमा-सत्य है।

उपयोग—1 स्व और पर को ग्रहण करने वाले जीव के परिणाम को उपयोग कहते हे। 2 जो चेतन्य का अन्वयी हे अर्थात् उसे छोड़कर अन्यत्र नहीं रहता, वह परिणाम उपयोग कहलाता है। यह दो प्रकार का हे—दर्शनोपयोग व ज्ञानोपयोग।

उपवास—अन्न-जल आदि सभी प्रकार के आहार का त्याग करना उपवास है। या विषय-कषाय को छोड़कर आत्मा में लीन रहना उपवास है।

उपवेशन—आहार करते समय शारीरिक शिथिलता के कारण साधु को यदि अचानक बैठना टिकना या सहारा लेना आवश्यक हो तो यह उपवेशन नाम का अन्तराय है।

उपशम—आत्मा में कर्म की निज शक्ति का कारणवश प्रगट न होना उपशम कहलाता है। जैसे—जल में फिटकरी डालने पर मैल नीचे बैठ जाता है और जल निर्मल हो जाता है इसी प्रकार कर्म के उपशम से अन्तर्मुहूर्त के लिए जीव के परिणाम अत्यंत निर्मल हो जाते हैं। यह उपशम की प्रक्रिया सिर्फ मोहनीय कर्म में होती है।

उपशम-श्रेणी—चारित्र मोहनीय कर्म का उपशम करता हुआ साधक जिस श्रेणी अर्थात् अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्म साम्पराय और उपशान्त कषाय नामक आठवे, नौवे, दसवे और ग्यारहवे इन चार गुणस्थानों रूप सीढ़ी पर चढ़ता है उसे उपशम-श्रेणी कहते हैं।

उपशम-सम्यक्त्व—दर्शन मोहनीय कर्म के उपशम से आत्मा में जो निर्मल शब्दान उत्पन्न होता है उसे उपशम सम्यक्त्व कहते हैं। यह दो प्रकार का है—प्रथमोपशम-सम्यक्त्व और द्वितीयोपशम-सम्यक्त्व।

उपशान्त-कषाय—जिसने समस्त मोहनीय कर्म का उपशम कर लिया है ऐसे ग्यारहवे गुणस्थानवर्ती जीव को उपशान्तकषाय कहते हैं।

उपसर्ग—१ साधुजनों पर आने वाली विपत्ति या सकट को उपसर्ग

कहते हैं। उपसर्ग चार प्रकार का है—मनुष्यकृत, देवकृत, तिर्यचकृत और प्रकृतिजन्य। २ देव, मनुष्य आदि के द्वारा साधु के ऊपर उपसर्ग होने पर आहार में वाधा होती है यह उपसर्ग नाम का अन्तराय है।

उपसर्ग-केवली—जो मुनि उपसर्ग सहन करते हुए धातिया कर्मों को जीत कर केवलज्ञान प्राप्त करते हैं वे उपसर्ग-केवली कहलाते हैं।

उपादान-कारण—किसी कार्य के होने में जो स्वयं उस कार्य रूप परिणमन करे, वह उपादान कारण कहलाता है। जैसे रोटी के बनने में गीला आटा उपादान-कारण है।

उपाध्याय—जो साधु जिनागम का उपदेश करते हैं, स्वयं पढ़ते और अन्य साधुओं को पढ़ाते हैं वे उपाध्याय कहलाते हैं। उपाध्याय परमेष्ठी चौदह विद्याओं के व्याख्यान करने वाले या तात्कालिक परमागम के व्याख्याता होते हैं। दीक्षा व प्रायशिच्छत आदि क्रियाओं को छोड़कर ये आचार्य के शेष समस्त गुणों से परिपूर्ण होते हैं।

उपासकाध्ययनाङ्ग—जिसमें श्रावक-धर्म का विशेष विवेचन किया गया हो वह उपासकाध्ययनाङ्ग कहलाता है।

उभय-मन-वचन—सत्य और असत्य दोनों रूप पदार्थ का जानने या कहने में जीव के मन और वचन की प्रयत्न रूप प्रवृत्ति को उभय-मन-वचन योग कहते हैं। जैसे—कमण्डलु में जल भरने की क्षमता देखकर उसे घडा मानना या घडा कहना। जल धारण की क्षमता होने से वह घडे की तरह है पर घडा नहीं है। अतः सत्य और असत्य दोनों रूप हैं।

उष्ण-नामकर्म—जिस कर्म के उदय से शरीरगत पुद्गल स्कन्धो में
उष्णता होती है उसे उष्ण-नामकर्म कहते हैं।

उष्ण-परीषह-जय—ग्रीष्मकाल में उपवास आदि के कारण उत्पन्न दाह
से पीड़ित होने पर भी जो साधु उसके प्रतिकार का विचार न करके
अपने चरित्र में दृढ़ता पूर्वक स्थित रहते हैं और उष्णता के कष्ट को
समतापूर्वक सहन करते हैं, उनके यह उष्ण-परीषह-जय हैं।

ऊ

ऊर्ध्वलोक—समूचा लोक तीन भागों में विभक्त है। लोक का ऊपरी भाग ऊर्ध्वलोक कहलाता है। इसका आकार मृदग अर्थात् ढोलक के समान है और ऊचाई सात राजू है। यहा वेमानिक देवों का निवास है। सोलह स्वर्ग, नौ ग्रैवेयक, नौ अनुदिश और पाच अनुत्तर-विमान—ये सभी ऊर्ध्वलोक में क्रमशः ऊपर ऊपर स्थित हैं।

ऋ

ऋजुगति—पूर्व भव के शरीर को छोड़कर आगामी भव में जाते हुए जीव की जो सरल अर्थात् धनुष से छूटे हुए बाण के समान मोहा-रहित गति होती है—उसे ऋजुगति कहते हैं। इसका दूसरा नाम ईषुगति भी है।

ऋजुमति—जो ज्ञान दूसरे के मन में स्थित सरल अर्थ को जान लेता है उसे ऋजुमति-मन पर्यय-ज्ञान कहते हैं।

ऋजुसूत्र—जो केवल वर्तमान काल सबधी पर्याय को ग्रहण करता है उसे ऋजुसूत्रनय कहते हैं। यह दो प्रकार का है—सूक्ष्म-ऋजुसूत्र और स्थूल-ऋजुसूत्र। सूक्ष्म-ऋजुसूत्र-नय प्रतिक्षण होने वाली अर्थ-पर्याय को ग्रहण करता है। स्थूल-ऋजुसूत्र-नय देव, मनुष्य आदि स्थूल पर्यायों को ग्रहण करता है।

ऋद्धि—तपस्या के फलस्वरूप साधु को जो विशेष शक्तिया प्राप्त हो जाती है उन्हे ऋद्धि कहते हैं। ऋद्धिया सात प्रकार की है जिनके भेद-प्रभेद चौसठ हैं।

ऋद्धिगारव—शिष्य, पुस्तक, कमण्डलु आदि के द्वारा अपना बड़प्पन या अभिमान प्रगट करना ऋद्धिगारव नामक दोष है।

ऋषि—ऋद्धि प्राप्त साधुओं को ऋषि कहते हैं। जो चार प्रकार के हैं—राजर्षि, ब्रह्मर्षि, देवर्षि और परमर्षि।

ए

एकत्व-वितर्क-अवीचार-भोहनीय कर्म को पूर्णत नष्ट करने के लिए साधु मन-वचन-काय रूप किसी एक योग में स्थित रहकर, अर्थ, व्यजन व योग के परिवर्तन से रहित होकर श्रुत के माध्यम से जो किसी एक द्रव्य, गुण या पर्याय का चितन करता है उसे **एकत्व-वितर्क-अवीचार नामक द्वितीय शुक्लध्यान** कहते हैं।

एकत्वानुप्रेक्षा—“मैं अकेला ही उत्पन्न होता हूँ, अकेला ही मरता हूँ अकेला ही कर्मों का उपार्जन करता हूँ और अकेला ही उन्हे भोगता हूँ, कोई भी स्वजन और परिजन मेरे जन्म, जरा और मरण आदि के कष्ट को दूर नहीं कर सकते, धर्म ही एकमात्र ऐसा है जो मेरा सहायक है और मेरे साथ जाकर भवान्तर मे भी सहायक हो सकता है,”—इस प्रकार बार-बार चिन्तन करना एकत्वानुप्रेक्षा है।

एकभक्त-जीवन-पर्यत प्रतिदिन सूर्य के प्रकाश मे विधिपूर्वक एक ही बार आहार ग्रहण करने की प्रतिज्ञा लेना एकभक्त ब्रत कहलाता है। यह साधु का एक मूलगुण है।

एकलविहारी—एकाकी विचरण करने वाले साधु को एकल-विहारी कहते हैं। पचम काल मे दीक्षा धारण करके अकेले रहना या अकेले विहार करना साधु के लिये प्रश्नसनीय नहीं है। तपोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध, आचार कुशल, उत्तम सहनन के धारी, धैर्यवान विशिष्ट साधु को ही अकेले विहार की अनुमति, आचार्यों ने दी है।

एकविधअवग्रह—एक प्रकार के अथवा एक जाति के, एक या अनेक

पदार्थों को जानना एकविध-अवग्रह है। जैसे—गेहूँ, चावल आदि एक प्रकार के धान्य को जानना।

एकान्त-मिथ्यात्व-तत्त्व के विषय में ‘यही है, इस प्रकार का है’—ऐसा भ्रान्त और एकान्त अभिप्राय या आग्रह रखना एकान्त मिथ्यात्व है। जैसे—जीव सर्वथा नित्य ही है या अनित्य ही है—ऐसा मानना।

एकावग्रह—किसी एक पदार्थ को जानना एकावग्रह है। जैसे—अनेक शब्दों में से किसी एक शब्द को जानना।

एकेन्द्रिय—जिसके एकमात्र स्पर्शन इन्द्रिय है वह एकेन्द्रिय जीव है। वनस्पति, जल, वायु आदि सभी स्थावर जीव एकेन्द्रिय हैं।

एलाचार्य—गुरु के पश्चात् जो श्रेष्ठ साधु सघस्थ अन्य साधुओं को मार्गदर्शन देता है उसे अनुदिश अर्थात् एलाचार्य कहते हैं।

एवंभूत-नय—जो वस्तु जिस पर्याय को प्राप्त हुई है उसी रूप निश्चय करने वाले या नाम देने वाले नय को एवंभूत-नय कहते हैं। आशय यह है कि जिस शब्द का जो वाच्य है उस रूप किया करते समय ही उस शब्द का प्रयोग करना ठीक है अन्य समयों में नहीं। जैसे—जिस समय आज्ञा या ऐश्वर्यवान् हो उस समय ही इन्द्र है, पूजा या अभिषेक करने वाला इन्द्र नहीं कहलाएगा।

एषणा-समिति—जीवन पर्यन्त सुकुल श्रावक के द्वारा दिया गया निर्दोष और प्रासुक आहार समतापूर्वक ग्रहण करने की प्रतिज्ञा लेना एषणा-समिति है। यह साधु का एक मूलगुण है।

ऐ

ऐरावत क्षेत्र—यह क्षेत्र छह खण्डो मे विभाजित है। इसमे पाच म्लेच्छखण्ड और एक आर्यखण्ड है। भरत क्षेत्र के समान ही सभी शलाका पुरुष इस क्षेत्र के आर्यखण्ड मे उत्पन्न होते हैं। ऐरावत नामक राजा के द्वारा परिपालित होने से इसका ऐरावत-क्षेत्र नाम प्रसिद्ध हुआ है। अढाई द्वीप मे पाच ऐरावत-क्षेत्र हैं।

ऐरावत हाथी—सौधर्म और ऐशान स्वर्ग के वाहन जाति के देव विक्रिया के द्वारा एक लाख योजन प्रमाण दीर्घ ऐरावत नामक हाथी बनते हैं। यह हाथी दिव्य रल-मालाओ से युक्त बत्तीस मुख वाला होता है। तीर्थकरो के जन्माभिषेक के अवसर पर बालक-तीर्थकर को लेकर सौधर्म इन्द्र इसी हाथी पर बैठकर आकाशमार्ग से सुमेरु पर्वत पर जाता है।

ऐलक—जो श्रावक की समस्त ग्यारह प्रतिमाओं का पालन करते हैं, शरीर पर एकमात्र कौपीन रूप वस्त्र धारण करते हैं और दिन मे एक बार बैठकर हाथ की अजली मे गृहस्थ के द्वारा दिया गया निर्दोष व प्रासुक आहार लेते हैं वे ऐलक कहलाते हैं। केशलुचन करना इनके नियमो मे शामिल है।

ओ

ओज आहार-पक्षियों के द्वारा अण्डे सेते समय जो उष्णा दी जाती है वह ओज-आहार है।

ओम्—यह पच परमेष्ठी वाचक मन्त्र है। अर्हन्त का अ, सिद्ध अर्थात् अशरीरि का अ, आचार्य का आ, उपाध्याय का उ, और मुनि का म्। इस तरह पच परमेष्ठी के प्रथम अक्षरों से मिलकर ‘ओम्’ बना है।

औ

औदिक्यक-भाव-जीव के जो भाव कर्म के उदय से उत्पन्न होते हैं वह औदिक्यक-भाव कहलाते हैं। औदिक्यक-भाव इक्कीस हैं—चार गति, चार कषाय, तीन लिंग, एक मिथ्यादर्शन, एक अज्ञान, एक असयम, एक असिद्ध भाव और छह लेश्याएँ।

औदारिक शरीर—जो शरीर गर्भजन्म से या सम्पूर्णन जन्म से उत्पन्न होता है वह औदारिक शरीर है। अथवा तिर्यच ओर मनुष्यों के स्थूल शरीर को औदारिक शरीर कहते हैं।

औपशमिक-भाव—जो कर्मों के उपशम से उत्पन्न होता है उसे औपशमिक-भाव कहते हैं। औपशमिक भाव दो हैं—औपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक-चारित्र।

औषधि दान—श्रद्धापूर्वक सदपात्र को अनुकूल औषधि, पथ्य आदि देना औषधि-दान कहलाता है।

क

कथा—१ मोक्ष पुरुषार्थ के लिये उपयोगी होने से धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थ का कथन करना कथा कहलाती है। २ जिससे जीवों को स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति होती है वह धर्म कहलाता है। धर्म से सबध रखने वाली कथा को धर्मकथा या सत्कथा कहते हैं। ३ प्रथमानुयोग आदि शास्त्र ही धर्मकथा हैं। आक्षेपिणी, विक्षेपिणी, सवेगनी और निर्वेगनी—ये चार धर्म-कथा के भेद हैं।

कदलीघात-मरण—विष, वेदना, रक्त-क्षय, भय, शस्त्राघात, सक्लेश, अनीति, आहार व श्वास के रोकने आदि किसी बाह्य कारण के द्वारा जो सहसा आयु का घात होता है उसे कदलीघात-मरण या अकाल-मृत्यु कहते हैं।

करण-लक्ष्य—करण का अर्थ परिणाम है। सम्यग्दर्शन के योग्य परिणामों की प्राप्ति होना करण-लक्ष्य है। करण-लक्ष्य भव्य जीवों को ही होती है। करण-लक्ष्य के अतर्गत जीव अध प्रवृत्त करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्ति करण रूप तीन करण करता है।

करणानुयोग—लोक-अलोक के विभाग, युगों के परिवर्तन और चारों गतियों के स्वरूप को बताने वाला शास्त्र करणानुयोग है। इस अनुयोग के कथन का प्रयोजन यह है कि लोक-अलोक आदि के वर्णन में उपयोग रम जाए तो पाप-प्रवृत्ति से छूटकर जीव स्वयमेव धर्म में लग जायेगा। लोक-अलोक का ऐसा सूक्ष्म वर्णन पढ़ने से श्रद्धान् में दृढ़ता और परिणामों में निर्मलता आयेगी।

करुणा-दान—दीन-दुखी जीवों को दयापूर्वक यथायोग्य आहार औषध आदि देना करुणा-दान या दया-दत्ति कहलाता है।

करेण-किञ्चित्-ग्रहण—आहार के समय यदि साधु अपने हाथ से कुछ उठा लेता है तो यह करेण-किञ्चित्-ग्रहण नाम का अन्तराय कहलाता है।

कर्म—जीव मन वचन काय के द्वारा प्रतिक्षण कुछ न कुछ करता है वह सब उसकी क्रिया या कर्म है। कर्म के द्वारा ही जीव परतत्र होता है और ससार में भटकता है। कर्म तीन प्रकार के हैं—द्रव्य-कर्म, भाव-कर्म और नो-कर्म।

कर्म-चेतना—ऐसा अनुभव करना कि ‘इसे मैं करता हूँ’—यह कर्म-चेतना है। वास्तव में, जीव का स्वभाव मात्र जानना देखना है पर कर्म से युक्त जीव ‘पर’ वस्तुओं में करने-धरने स्पष्ट विकल्प करता है यही कर्म-चेतना है।

कर्मप्रवाद—जिसमें कर्मों की बध, उदय, उपशम आदि विविध अवस्थाओं का और स्थिति आदि का वर्णन है वह कर्म-प्रवाद-पूर्व नाम का आठवा पूर्व है।

कर्मफल-चेतना—ऐसा अनुभव करना कि ‘इसे मैं भोगता हूँ’ यह कर्मफल-चेतना है। अज्ञानी ससारी जीव इन्द्रिय-जनित सुख-दुख में तन्मय होकर ‘सुखी या दुखी’—ऐसा अनुभव करता है यही कर्म-फल-चेतना है।

कर्मभूमि—जहा के निवासी खेती, व्यापार आदि कर्म करके अपनी

आजीविका चलाते हैं उसे कर्मभूमि कहते हैं। कर्मभूमि में जीव दान पुण्य आदि धर्म कार्य कर सकते हैं और सयम धारण करके मोक्ष भी प्राप्त कर सकते हैं। तीर्थकर आदि सभी महापुरुष कर्म-भूमि में ही उत्पन्न होते हैं। अढाई द्वीप में पाच भरत, पाच ऐरावत और पाच विदेह सबधी पद्रह कर्मभूमिया हैं।

कर्माहार-नारकी जीवों के आहार को कर्माहार कहते हैं।

कल्की-साधुजनों पर अत्याचार करने वाले धर्मद्रोहीं राजा को कल्की कहते हैं। अवसर्पिणी के पचमकाल में प्रत्येक एक हजार वर्ष के बाद एक-एक कल्की का जन्म होता है तथा प्रत्येक पाच सौ वर्ष के बाद एक-एक उपकल्की जन्म लेता है। इस प्रकार पूरे पचमकाल में इक्कीस कल्की और उतने ही उपकल्की धर्मात्माओं पर अत्याचार करने के कारण प्रथम नरक जाते हैं। प्रत्येक कल्की के समय में साधु-सघ अत्यत् अत्यं रह जाता है। अंतिम कल्की के समय मात्र एक साधु, एक आर्थिका, एक श्रावक और एक श्राविका शेष रहते हैं जो समाधि-भरण ग्रहण करके स्वर्ग जाते हैं। इसके उपरात धर्म-कर्म से शून्य दुखमा-दुखमा नामक छठा काल प्रारम्भ होता है।

कल्प-काल-दश कोडाकोडी सागर प्रमाण अवसर्पिणी और उतना ही उत्सर्पिणी, ये दोनों मिलकर अर्थात् बीस कोडाकोडी सागर प्रमाण एक कल्प-काल होता है।

कल्पद्रुम-पूजा-चक्रवर्ती के द्वारा किमिच्छक-दान अर्थात् सभी को इच्छानुरूप दान देकर जो भगवान् जिनेन्द्र की पूजा की जाती है उसे कल्पद्रुम पूजा कहते हैं।

कल्पवासी-देव-इन्द्र सामानिक आदि भैद युक्त देव जहा रहते हे उस कल्प कहते हे। अत कल्प मे उत्पन्न होने वाले देवो को कल्पवासी देव कहा जाता हे। सभी सौलह स्वर्गो के देव कल्पवासी हें।

कल्पवृक्ष-जो जीवो को अपनी-अपनी मनवांछित वस्तुए दिया करते हे वे कल्पवृक्ष कहलाते हे। भोगभूमि मे पानाग, तूर्याग, भूषणाग, वस्त्राग, भोजनाग, आलयाग, दीपाग, भाजनाग, मालाग और तेजाग आदि कल्पवृक्ष होते हे।

कल्पातीत-देव-इन्द्र सामानिक आदि भैद से रहित देव कल्पातीत-देव कहलाते हे। सौलह स्वर्ग से ऊपर नो ग्रीवेयक, नो अनुदिश और पाच अनुत्तर विमानो मे सभी कल्पातीत-देव हैं।

कल्पव्यवहार-जिसमे साधुओ के योग्य आचरण का ओर अयोग्य-आचरण होने पर प्रायश्चित्त विधि का वर्णन हे वह कल्पव्यवहार नामक अङ्गबाह्य श्रुत है।

कल्प्याकल्प्य- “द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा मुनियो के लिए यह योग्य हे, और यह अयोग्य हे”, —इस तरह इन सबका वर्णन करने वाला कल्प्याकल्प नामक अङ्गबाह्य श्रुत है।

कल्याणक-तीर्थकरो के जीवन मे पाच प्रसिद्ध अवसर ऐसे आते हैं जो जगत् के लिए कल्याणकारी होते हे इन्हे ही पचकल्याणक कहते हैं। गर्भ-कल्याणक, जन्म-कल्याणक, दीक्षा-कल्याणक, ज्ञान-कल्याणक और माक्ष-कल्याणक—ये पाच कल्याणक हे। भरत और ऐरावत क्षेत्र मे पाचो कल्याणक वाले तीर्थकर उत्पन्न होते हे। विदेह क्षेत्र मे दो या तीन कल्याणक वाले तीर्थकर भी होते हैं।

कल्याणवाद-पूर्व—जिसमे सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र और तारागणों के गमन-क्षेत्र, उपपाद-स्थान, अनुकूल-प्रतिकूल गति तथा उसके फल का, पक्षियों के शब्दों का एवं तीर्थकर के पच कल्याणकों का वर्णन किया गया है वह कल्याणवाद-पूर्व नाम का ख्यारहवा पूर्व है।

कवलाहार-मनुष्य और तिर्यचों के द्वारा कवल अर्थात् ग्रास के रूप में जो आहार मुख से ग्रहण किया जाता है वह कवलाहार है। यह खाद्य, स्वाद्य, लेह्य और पेय-ऐसे चार प्रकार का है।

कषाय—आत्मा में होने वाली क्रोधादि रूप कलुषता को कषाय कहते हैं। क्रोध, मान, पाया और लोभ रूप चार कषाये हैं।

कषाय-समुद्घात—वाह्य निमित्त पाकर कषाय की तीव्रता में जीव के आत्म-प्रदेश शरीर से तिगुने फैल जाते हैं यह कषाय-समुद्घात है।

काक—आहार के लिए जाते समय या आहार करते समय साधु के ऊपर कोआ आदि पक्षी बीट कर देतो यह काक नाम का अन्तराय है।

काकादि-पिण्ड-हरण—आहार करते समय कोआ आदि पक्षी साधु के हाथ से ग्रास उठा ले जाए तो यह काकादि-पिण्ड-हरण नाम का अन्तराय है।

कापोत-लेश्या—ईर्ष्या करना, चुगली करना, दूसरे का अपमान करना, आत्म-प्रशसा करना, दूसरों की निन्दा करना, अपनी प्रशसा सुनकर सतुष्ट होना, युद्ध में मरने की इच्छा रखना और कर्तव्य-अकर्तव्य को नहीं पहचानना—ये सब कापोत लेश्या के लक्षण हैं।

कामदेव—चौबीस तीर्थकरों के समय में अनुपम सौदर्य को धारण करने

का हे—निश्चय-काल और व्यवहार-काल ।

काल-परिवर्तन—कोई जीव उत्सर्पिणी काल के प्रथम समय में उत्पन्न हुआ व आयु पूर्ण होने पर मर गया फिर वह भ्रमण करके द्वितीय उत्सर्पिणी काल के द्वितीय समय में उत्पन्न हुआ और आयु पूर्ण होने पर मर गया, फिर वह भ्रमण करके तृतीय उत्सर्पिणी के तृतीय समय में उत्पन्न हुआ और आयु पूर्ण होने पर मर गया, इस प्रकार क्रम से उसने उत्सर्पिणी काल के प्रत्येक समय में जन्म लिया और फिर क्रम से अवसर्पिणी काल पूरा किया । अर्थात् उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी-काल के बीस कोड़ा-कोड़ी सागर के जितने समय हे उनमे क्रमशः उत्पन्न हुआ और क्रमशः मरण भी किया । यह सब मिलकर एक काल-परिवर्तन है । तात्पर्य यह हे कि काल-परिवर्तन रूप ससार में भ्रमण करता हुआ यह जीव उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के संपूर्ण समयों में अनेक बार जन्म धारण करता हे और मरता हे ।

काल-पूजा—तीर्थकरों के पचकल्याणक की तिथिया तथा अन्य दसलक्षण आदि पर्व के दिनों को निमित्त बनाकर जो पूजा की जाती हे वह काल-पूजा है ।

काल-लब्धि—सम्यग्दर्शन की प्राप्ति मे काल लब्धि आदि बहिरण कारण और करण लब्धि रूप अतरण कारण होना अनिवार्य हे । तीन प्रकार की काल लब्धि मानी गयी है—प्रत्येक भव्यात्मा अर्धपुद्गल परिवर्तन काल शेष रहने पर प्रथम सम्यक्त्व ग्रहण करने योग्य होता है इससे अधिक काल शेष रहने पर नहीं होता, यह ससार-स्थिति सबधी प्रथम काल-लब्धि है । उक्तृष्ट या जघन्य स्थिति वाले कर्मों के शेष रहने पर प्रथम सम्यक्त्व का लाभ नहीं होता बल्कि जब वधने

वाले कर्मों की स्थिति अत कोडकोडी सागर होती है और विशुद्ध परिणामों के फलस्वरूप सत्ता में स्थित कर्मों की स्थिति सख्यात हजार सागर कम अत कोडकोडी सागर रह जाती है तब यह जीव प्रथम सम्यक्त्व ग्रहण करने योग्य होता है, यह कर्म-स्थिति सबधी द्वितीय काललब्धि है। जो जीव भव्य है, सज्जी, पचेन्द्रिय, पर्याप्तक है और सर्वविशुद्ध है वह प्रथम सम्यक्त्व ग्रहण करने योग्य है, यह भव सबधी तीसरी काल-लब्धि है।

काल-सामायिक-ग्रीष्म आदि किसी भी ऋतु के आने पर उसमे राग-द्वेष नहीं करना समता-भाव रखना काल-सामायिक है।

काल-स्तव-तीर्थकरों के गर्भ, जन्म आदि पच-कल्याणकों की शुभ क्रियाओं से जो महत्ता को प्राप्त हो चुका है ऐसे काल का वर्णन करना काल-स्तव है।

कालाचार-स्वाध्याय के योग्य काल में ही शास्त्र का पठन-पाठन आदि करना कालाचार या काल-शुद्धि है।

कालोदधि-मध्यलोक का द्वितीय समुद्र। यह कृष्णवर्ण का है और धातकीखण्ड द्वीप को सब ओर से धेरे हुए है। इसमे चौबीस द्वीप अभ्यन्तर सीमा मे और चौबीस बाह्य सीमा मे है। इन सभी द्वीपों मे हाथी, घोड़ा, ऊट आदि के समान आकृति वाले कुशोगभूमिज मनुष्य रहते हैं।

कीलक-सहनन-जिस कर्म के उदय से शरीर मे हड्डियों की संधिया कील आदि के विना मात्र परस्पर जुड़ी रहती है वह कीलक-सहनन नामकर्म कहलाता है।

कुगुरु—आरभ और परिग्रह में सलग्न साधु तथा पाखण्डी वेषधारी साधु कुगुरु कहलाते हैं।

कुदेव—जो देव अपने साथ स्त्री, अस्त्र-शस्त्र, वस्त्र आदि परिग्रह रखते हैं एव रागद्वेष से दूषित होकर शाप और वरदान देते हैं वे कुदेव कहलाते हैं।

कुधर्म—जिस धर्म या धर्मग्रन्थ में हिसादि पापाचरण को धर्म माना गया हो उसे कुशास्त्र या कुधर्म कहते हैं।

कुयुनाथ—सत्रहवे तीर्थकर और छठे चक्रवर्ती। हस्तिनापुर के कौरववशी महाराज सूरसेन और रानी श्रीकान्ता के यहा जन्म लिया। इनकी आयु पचानवे हजार वर्ष थी। शरीर की ऊचाई पैतीस धनुष और आभा स्वर्ण के समान थी। चक्रवर्ती का विपुल-वैश्वत्याग कर एक दिन दिगम्बर दीक्षा अङ्गीकार कर ली। सोलह वर्ष तक कठिन तपस्या के उपरान्त केवलज्ञान प्राप्त किया। इनके चतुर्विंश सघ में स्वयंभू आदि पैतीस गणधर, साठ हजार मुनि, साठ हजार तीन सौ पचास आर्थिकाएं, तीन लाख श्राविकाएं और दो लाख श्रावक थे। इन्होने सम्मेदशिखर से निर्वाण प्राप्त किया।

कुब्जक-सस्थान—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर कुवडा होता है उसे कुब्जक-शरीर-सस्थान नामकर्म कहते हैं।

कुल—1 दीक्षा देने वाले आचार्य की शिष्य परपरा को कुल कहते हैं। 2 पिता की वश परपरा को कुल कहते हैं।

कुलकर—कर्मभूमि के प्रारभ में आर्य पुरुषों को कुल या कुटुम्ब की

भाँति इकड़े रहकर जीनें का उपर्देश देने वाले महापुरुष कुलकर कहलाते हैं। प्रजा के जीवन-यापन का उपाय जानने से ये मनु भी कहलाते हैं। प्रत्येक अवसर्पिणी के तीसरे और उत्सर्पिणी के दूसरे काल में चौदह कुलकर होते हैं। ये सभी क्षायिक सम्यग्दृष्टि होते हैं। इसमें किसी को जातिस्मरण और किसी को अवधिज्ञान होता है।

कुशील—कामसेवन में आसक्त होना कुशील है। अथवा शील का अर्थ स्वभाव है अत अपने आत्म-स्वभाव से विचलित होना कुशील है।

कुशील साधु—यह निर्गन्ध साधु का एक भेद है। कुशील नामक निर्ग्रथ साधु दो प्रकार के हे—कषाय कुशील और प्रतिसेवना कुशील। जिन्होंने अन्य सभी कपायों को जीत लिया है जो केवल सञ्चलन कपाय के अधीन है ऐसे निर्गन्ध साधु कपाय-कुशील कहलाते हैं। जो मूलगुण और उत्तरगुणों से परिपूर्ण है लेकिन कभी उत्तरगुणों की विराधना जिनसे हो जाती है ऐसे निर्गन्ध साधु प्रतिसेवना-कुशील कहलाते हैं।

कृत—स्वय अपने द्वारा किया गया कार्य कृत कहलाता है।

कृतिकर्म—1 अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य ओर बहुशुतवान् साधु की वदना करते समय जो विनय आदि क्रिया की जाती है उसे कृतिकर्म कहते हैं। 2 जिसमें अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य और साधु की पूजा विधि का वर्णन है वह कृतिकर्म नाम का अङ्गवाल्य है।

कृष्ण-लेश्या—कृष्ण-लेश्या से युक्त दुष्ट पुरुष अपने ही गोत्रीय बधु और एकमात्र पुत्र को भी मारने की इच्छा करता है। दुराग्रह, तीव्र वेर, अतिक्रोध, निर्दयता, क्लोश, सत्ताप, हिसा, असतोष आदि

ताप्स-भाव कृष्ण-लेश्या के लक्षण हे।

केवलज्ञान—जो सकल चराचर जगत् को दर्पण मे झलकते प्रतिविव की तरह एक साथ स्पष्ट जानता हे वह केवलज्ञान हे। यह ज्ञान चार घातिया कर्मों के नष्ट होने पर आत्मा मे उत्पन्न होता है।

केवलदर्शन—समस्त आवरण का क्षय होने से जो सर्व चराचर जगत् का सामान्य प्रतिभास होता हे उसे केवल-दर्शन कहते हे। केवलज्ञान और केवलदर्शन क्रमशः न होकर एक साथ ही होते है।

केवलि-अवर्णवाद—“केवली भगवान कवलाहार करते हैं, कम्बल व भिक्षा-पात्र ग्रहण करते है उनके ज्ञान व दर्शन एक साथ न होकर क्रमशः होते हे तथा वे नग्न होते हुए भी वस्त्राभूषण से आभूषित दिखाई देते हे”—इस प्रकार केवली भगवान के विषय मे मिथ्या कथन करना केवलि-अवर्णवाद है।

केवलि-समुद्धात्—आयुकर्म की स्थिति अल्प ओर वेदनीय कर्म की स्थिति अधिक होने पर उसे आयु के समान करने के लिए केवली भगवान् के आत्म-प्रदेश मूल शरीर से बाहर फैलते हैं इसे केवलि-समुद्धात् कहते हैं। जैसे—दूध मे उबाल आकर शात हो जाता हे उसी प्रकार यह प्रक्रिया होती है। यह समुद्धात दड, कपाट, प्रतर व लोकपूरण—इन चार अवस्थाओं मे क्रमशः पूर्ण होता है।

केवली—चार घातिया कर्मों के क्षय होने से जिन्हे केवलज्ञान प्राप्त हो गया है वे केवली कहलाते हे। इन्हे अहन्त भी कहते है। केवली दो प्रकार के है—सयोग-केवली और अयोग-केवली। केवली भगवान जब तक विहार और उपदेश आदि क्रियाए करते हैं तब तक

सयोग-केवली कहलाते हैं। आयु के अंतिम कुछ क्षणों में जब इन क्रियाओं का त्याग करके योग-निरोध कर लेते हैं तब वे अयोग-केवली कहलाते हैं। तीर्थकर-केवली, सातिशय-केवली, मूक-केवली, उपसर्ग-केवली, अन्तकृत-केवली और सामान्य केवली—ऐसे केवली के छह भेद हैं।

केशलौच-जीवन पर्यन्त निश्चित अवधि के उपरात अपने सिर, दाढ़ी और मूँछ के बालों को बिना खेद के शान्त-भाव से उखाड़ कर अलग कर देने की प्रतिज्ञा लेना यह साधु का केशलौच नाम का मूलगुण है। इसे अधिकतम चार महीने के अंतराल में करना अनिवार्य है। केशलौच के दिन उपवास भी किया जाता है।

कैलास-पर्वत—यह तीर्थकर ऋषभदेव की निर्वाणभूमि है। चक्रवर्ती भरत ने यहां महारलों से निर्मित चौबीस जिनालय बनवाये थे। पाच सौ धनुष ऊची भगवान ऋषभदेव की प्रतिमा भी उन्होंने यही स्थापित करायी थी।

कोडाकोड़ी—एक करोड़ में एक करोड़ का गुणा करने पर जो राशि प्राप्त होती है उसे एक कोडाकोड़ी या एक कोटाकोटी कहते हैं।

कोष्ठ-बुद्धि—उल्कस्त धारणा ज्ञान से युक्त जो साधु गुरु के उपदेश से अनेक प्रकार के ग्रथों में से शब्द रूपी बीज-पदों को अपने बुद्धि रूपी कोठे में धारण कर लेते हैं उनकी बुद्धि को कोष्ठ बुद्धि कहा जाता है। यह एक ऋद्धि है।

क्रियाविशाल—जिसमें लेखन कला आदि वहत्तर कलाओं का, स्त्री सवधी चोसठ गुणों का, काव्य-सवधी गुण-दाष-विधि का और छद्म निर्माण कला का विवेचन है वह क्रिया-विशाल-पूर्व नाम का तंरहवा पूर्व है।

क्रीत-दोष—अपनी गाय आदि किसी वस्तु को देकर वदले में आहार सामग्री लेकर साधु को देना क्रीत-दोष है।

क्रोध—अपने और दूसरे के घात या अहित करने रूप क्रूर परिणाम को क्रोध कहते हैं। वह पर्वत रेखा, पृथ्वी रेखा, धूलि रेखा और जल रेखा के समान चार प्रकार का है।

क्रोध-दोष—दाता के सामने क्रोध प्रगट करके यदि साधु आहार प्राप्त करता है तो यह क्रोध नामक दोष है।

क्षपक—क्षपक-श्रेणी पर चढ़ने वाला जीव चारित्रमोहनीय का अन्तरकरण कर लेने पर क्षपक कहलाता है। क्षपक दो प्रकार के हैं—अपूर्वकरण-क्षपक और अनिवृत्तिकरण-क्षपक।

क्षपक-श्रेणी—मोहनीय कर्म का क्षय करता हुआ साधु जिस श्रेणी अर्थात् अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्म-साम्पराय और क्षीण-मोह नामक आठवे, नौवे, दसवे और बारहवे—इन चार गुणस्थानों रूप सीढ़ी पर आरूढ़ होता है उसे क्षपक-श्रेणी कहते हैं।

क्षमा-धर्म—क्रोध उत्पन्न कराने वाले कारण मिलने पर भी जो थोड़ा भी क्रोध नहीं करता उसके यह क्षमाधर्म है। अथवा क्रोध का अभाव होना ही क्षमा है।

क्षय-क्षय का अर्थ हे नष्ट होना। जैसे फिटकरी आदि मिलाने पर स्वच्छ हुए जल को दूसरे साफ बर्तन मे बदल देने पर कीचड़ का अत्यन्त अभाव हो जाता है ऐसे ही कर्मों का आत्मा से सर्वथा दूर हो जाना क्षय है।

क्षयोपशम-जैसे कोदो को धोने से कुछ कोदो की मादकता नष्ट हो जाती है कुछ बनी रहती है इसी तरह परिणामों की निर्मलता से कर्मों के एकदेश का क्षय और एकदेश का उपशम होना क्षयोपशम कहलाता है। यद्यपि इस अवस्था मे कुछ कर्मों का उदय भी विद्यमान रहता है परन्तु उसकी शक्ति अत्यत क्षीण हो जाने के कारण वह जीव के गुणों को घातने मे समर्थ नहीं होता। इसीलिए कर्मों का उदय होते हुए भी जो जीव के गुण का अश उपलब्ध रहता है उसे क्षयोपशम कहते हैं।

क्षयोपशम-लघ्व-ज्ञानावरणीय कर्म के एकदेश क्षय होने को क्षयोपशम कहते हैं। क्षयोपशम होने पर आत्मा मे जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे क्षयोपशम-लघ्व कहते हैं।

क्षायिक-उपभोग-उपभोगान्तराय कर्म के नष्ट हो जाने से आत्मा के अनन्त उपभोग होता है। इसे क्षायिक-उपभोग भी कहते हैं। इसके फलस्वरूप अर्हन्त अवस्था मे सिंहासन, छत्र, चमर आदि रूप विभूतिया प्राप्त होती है।

क्षायिक-भोग-भोगान्तराय कर्म के नष्ट हो जाने से आत्मा के अनन्त-भोग या क्षायिक-भोग का प्रादुर्भाव होता है। जिसके फलस्वरूप अर्हन्त अवस्था मे पुष्प-वृष्टि आदि अतिशय होते हैं।

क्षायिक-दान—दानान्तराय कर्म के नष्ट हो जाने से आत्मा में अनन्त क्षायिक दान प्रगट होता है जिसके फलस्वरूप अनन्त जीवों का उपकार करने की सामर्थ्य होती है।

क्षायिक-चारित्र—चारित्र मोहनीय के क्षय से उत्पन्न होने वाले वीतराग परम यथाछ्यात् चारित्र को क्षायिक-चारित्र कहते हैं।

क्षायिक-ज्ञान—ज्ञानावरण-कर्म के क्षय से उत्पन्न होने वाले अनन्त ज्ञान को क्षायिक-ज्ञान कहते हैं। इसे केवलज्ञान भी कहते हैं।

क्षायिक-भाव—जो कर्मों के क्षय से उत्पन्न होता है वह क्षायिक-भाव कहलाता है। क्षायिक भाव के नो भेद है—क्षायिक-ज्ञान, क्षायिक-दर्शन, क्षायिक-दान, क्षायिक-लाभ, क्षायिक-भोग, क्षायिक-उपभोग, क्षायिक-वीर्य, क्षायिक-सम्यक्त्व और क्षायिक-चारित्र।

क्षायिक-लाभ—लाभान्तराय कर्म के क्षय से आत्मा में अनन्त लाभ या क्षायिक-लाभ का प्रादुर्भाव होता है जिसके फलस्वरूप अर्हन्त अवस्था में शरीर के योग्य अत्यत शुभ, सूक्ष्म और असाधारण पुद्गल स्कंध प्रतिसमय प्राप्त होते रहते हैं।

क्षायिक-वीर्य—वीर्यान्तराय कर्म के क्षय से आत्मा में अनन्त वीर्य या क्षायिक वीर्य का प्रादुर्भाव होता है जिसके फलस्वरूप कवली भगवान को चराचर अनन्त पदार्थों को जानने की सामर्थ्य प्राप्त होती है।

क्षायिक-सम्यक्त्व—अनन्तानुवधी क्रोध-मान-माया-लोभ तथा सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यक्-मिथ्यात्व इन सात कर्म प्रकृतियों का क्षय होने से आत्मा में जो निर्मल श्रद्धान उत्पन्न होता है उस क्षायिक-सम्यक्त्व

या क्षायिक-सम्यग्दर्शन कहते हैं।

क्षायोपशमिक-चारित्र-चारित्र-मोहनीय कर्म के क्षयोपशम से आत्मा में जो विषय-कषाय से निवृत्ति और ब्रतादिक में प्रवृत्ति रूप परिणाम उत्पन्न होता है उसे क्षायोपशमिक-चारित्र कहते हैं।

क्षायोपशमिक-ज्ञान-मतिज्ञानावरणादि अपने-अपने आवरणी कर्मों के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाले मति, श्रुत, अवधि और मन पर्यय इन चार ज्ञानों को क्षायोपशमिक-ज्ञान कहते हैं।

क्षायोपशमिक-भाव-जो कर्मों के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है वह क्षायोपशमिक-भाव है। क्षायोपशमिक भाव के अठारह भेद हैं—मतिज्ञान आदि चार ज्ञान, कुमति आदि तीन अज्ञान, चक्षुदर्शन आदि तीन दर्शन, दान आदि पाच लक्ष्य, सम्यक्त्व, चारित्र और सयमासयम।

क्षायोपशमिक-सम्यक्त्व-अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ तथा मिथ्यात्व और सम्यक्-मिथ्यात्व इन छह प्रकृतियों के उदयाभावी क्षय और उन्हीं के सदवस्थारूप उपशम से तथा सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से उत्पन्न होने वाले तत्त्वार्थ-श्रद्धान को क्षायोपशमिक-सम्यक्त्व कहते हैं।

क्षितिशयन-द्रत-जीवन पर्यत प्रासुक भूमि पर या तुणादि से वने सस्तर पर किसी एक करवट से शयन करने की प्रतिज्ञा लेना क्षितिशयन-द्रत कहलाता है। यह मुनियों का एक मूलगुण है।

क्षिप्र-अवग्रह-वस्तु को शीघ्रतापूर्वक अर्थात् जल्दी से जान लेना क्षिप्र-अवग्रह कहलाता है।

क्षीण-कृपाय-मोहनीय कर्म का क्षय करने वाले वारहवे गुणस्थानवर्ती निर्ग्रथ वीतराग साधु को क्षीण-कृपाय-वीतराग-छद्मस्थ कहते हैं।

क्षीरस्नावी ऋद्धि-जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु के हाथ में दिया गया रुखा-सूखा आहार तत्काल दूध के समान हो जाता है या जिसके प्रभाव से साधु के वचन सुनने मात्र से मनुष्य और तिर्यचों के दुखादि शात हो जाते हैं उसे क्षीरस्नावी-ऋद्धि कहते हैं।

क्षुद्रभव-एक अन्तर्मुहूर्त में लब्ध्यपर्याप्तिक जीव के जितने भव होते हैं वे क्षुद्रभव कहलाते हैं। एकेन्द्रिय के क्षुद्रभव 66132, दो, तीन व चार इन्द्रिय के 180, पचेन्द्रिय के 24 इस प्रकार कुल 66336 क्षुद्रभव एक अतर्मुहूर्त में हो सकते हैं।

क्षुधा-परीषह-जय-जो साधु आहार नहीं मिलने पर या अन्तराय हो जाने पर उत्पन्न होने वाली क्षुधा अर्थात् भूख की वेदना को समतापूर्वक सहन करता है, उसके क्षुधा-परीषह-जय होता है।

क्षुल्लक-जो श्रावक की समस्त ग्यारह प्रतिमाओं का पालन करते हैं, शरीर पर एक चादर और एक कोपीन रूप वस्त्र धारण करते हैं और दिन में एक बार वैठकर थाली या कटोरे में गृहस्थ के द्वारा दिया गया प्रासुक आहार लेते हैं वे क्षुल्लक कहलाते हैं।

क्षेत्र-वर्तमान काल सवधी निवास का नाम क्षेत्र है। किस गुणस्थान या मार्गणा स्थान वाले जीव इस लोक में कहा और कितने भाग में पाए जाते हैं यह जानकारी क्षेत्र के द्वारा मिलती है।

क्षेत्र-परिवर्तन-क्षेत्र परिवर्तन के दो भेद हैं—स्वक्षेत्र परिवर्तन और

परक्षेत्र परिवर्तन। स्वक्षेत्र परिवर्तन—कोई जीव सूक्ष्म निगोदिया की जघन्य अवगाहना से उत्पन्न हुआ और अपनी आयु पूर्ण करके मर गया फिर वही जीव एक प्रदेश अधिक अवगाहना लेकर उत्पन्न हुआ और आयु पूर्ण करके मर गया। इस प्रकार एक-एक प्रदेश अधिक की अवगाहनाओं को धारण करते-करते महामत्स्य की उल्कृष्ट अवगाहना पर्यन्त अनेक अवगाहना धारण करता है। इस प्रकार छोटी अवगाहना से लेकर बड़ी अवगाहना पर्यन्त सब अवगाहनाओं को धारण करने में जितना काल लगता है उसे स्वक्षेत्र परिवर्तन कहते हैं। परक्षेत्र परिवर्तन—जिसका शरीर आकाश के सबसे कम प्रदेशों पर स्थित है ऐसा एक सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव लोक के आठ मध्यप्रदेशों को अपने शरीर के आठ मध्य प्रदेश बनाकर उत्पन्न हुआ और आयु पूर्ण करके मर गया फिर वही जीव पुन उसी अवगाहना से वहा दूसरी बार उत्पन्न हुआ, तीसरी बार उत्पन्न हुआ, इस प्रकार अद्भुत के असख्यातवे भाग में आकाश के जितने प्रदेश हैं उतनी बार वही उत्पन्न हुआ। पुन उसने आकाश का एक-एक प्रदेश बढ़ाकर सब लोक को अपना जन्म क्षेत्र बनाया। इस प्रकार यह सब मिलकर एक परक्षेत्र परिवर्तन होता है। तात्पर्य यह है कि क्षेत्र परिवर्तन रूप ससार में अनेक बार भ्रमण करता हुआ जीव तीनों लोक में ऐसा कोई भी स्थान नहीं है जहा पर अनेक अवगाहनाओं के साथ उत्पन्न न हुआ हो।

क्षेत्र-पूजा—तीर्थकरों के गर्भ, जन्म, आदि पच-कल्याणक जहा-जहा हुए हे उन स्थानों की विधिपूर्वक पूजा करना क्षेत्र-पूजा है।

क्षेत्र-विपाकी—जिन कर्मों का विपाक अर्थात् फल विग्रह गति के रूप

ग

गङ्गा-नदी—चौदह महानदियों में प्रथम नदी। यह हिमवान् पर्वत पर पश्च-मरोवर के पूर्व द्वार से निकली है। इसके उद्गम स्थान का विस्तार छ योजन और एक कोस तथा गहराई आधा कोस है। यह अपने उद्गम से पाच सौ योजन पूर्व दिशा की ओर बहकर गगाकूट से लोटी हुई दक्षिण की ओर भरत क्षेत्र में आयी है। अत में यह चौदह हजार सहायक नदियों के साथ पूर्व-ल्लवण-समुद्र में प्रवेश करती है। इसे जाहवी, ओमापगा, आकाशगङ्गा, त्रिमार्गा ओर मंदाकिनी भी कहते हैं।

गण—दो या तीन चिरदीक्षित साधुओं के समूह को गण कहते हैं।

गणधर—जो तीर्थकर के पादमूल में समस्त ऋद्धिया प्राप्त करके भगवान की दिव्यधनि को धारण करने में समर्थ है और लोक-कल्याण के लिए उस वाणी का सार द्वाटशाग श्रुत के रूप में जगत को प्रदान करते हैं, ऐसे महामुनीश्वर ‘गणधर’ कहलाते हैं। प्राप्त ऋद्धियों के बल से गणधर आहार, नीहार, निद्रा, आलस्य आदि से सर्वथा मुक्त है अत चौबीस घण्टे निरतर भगवान की वाणी हृदयगम करने में सलग्न रहते हैं। ये तद्भव मोक्षगामी होते हैं।

गति-नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव मनुष्य, तिर्यच, देव व नारकीपने को प्राप्त करता है उसे गति नामकर्म कहते हैं। मनुष्यगति, तिर्यचगति, देवगति व नरकगति—ये चार गतिया हैं।

गन्ध-नामकर्म—जिस नामकर्म के उदय से जीव के शरीर में अपनी

जाति के अनुरूप गध उत्पन्न होती है उसे गध-नामकर्म कहते हैं। यह दो प्रकार का है—सुरभि-गध और दुरभि-गध नामकर्म।

गच्छकुटी—समवसरण में तीर्थकर भगवान के बैठने का स्थान गच्छकुटी कहलाता है। इसके मध्य में अत्यन्त मनोहर सिहासन होता है। जिस पर स्थित कमल के ऊपर भगवान अत्तरिक्ष में विराजमान होते हैं।

गरिमा-ऋद्धि—जिस ऋद्धि के प्रभाव से वज्र से भी गुरुतर अर्थात् भारी शरीर बनाया जा सके उसे गरिमा-ऋद्धि कहते हैं।

गर्तपूरण-वृत्ति—जिस किसी भी प्रकार से गद्धा भरने की तरह साधु स्वादिष्ट या अस्वादिष्ट अन्न जल के द्वारा पेट रूपी गड्ढे को भर देते हैं, इसलिए साधु की यह आहार चर्या गर्तपूरण या स्वभ्रभरण-वृत्ति कहलाती है।

गर्भकल्याणक—तीर्थकरों के गर्भ में आने पर होने वाला एक उत्सव। इस अवसर पर इन्द्र आकर तीर्थकर के माता-पिता को भक्तिपूर्वक सिहासन पर बैठाकर उनका अभिषेक-सम्मान आदि करते हैं और तीर्थकर का स्मरण कर तीन प्रदक्षिणा देते हैं।

गर्भजन्म—माता के उदर में रज और वीर्य के परस्पर मिश्रण को गर्भ कहते हैं। इस गर्भ को ही शरीर रूप से ग्रहण करके जीवों का उत्पन्न होना गर्भजन्म है। जरायुज, अण्डज और पोतज ये तीन गर्भजन्म के भेद हैं। गर्भजन्म मनुष्य और तिर्यच के ही होता है।

गर्हा—गुरु के समक्ष अपने दोष प्रकट करना गर्हा कहलाती है।

गार्व—गर्व या बड़प्पन को गार्व कहते हैं। यह तीन प्रकार का

है—क्रन्दि-गारव, शब्द-गारव, सात-गारव या रस-गारव।

पिरिनार—गुजरात प्रान्त के जूनागढ़ में स्थित एक पर्वत जहा तीर्थकर नेमिनाथ ने दीक्षा ग्रहण करके क्रमशः कंवलज्ञान तथा मोक्ष प्राप्त किया। इसका दूसरा नाम उर्जयन्त्तरिं भी है।

गुण—जो एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य से प्रथक् करता है उसे गुण कहते हैं। गुण सदा द्रव्य के आश्रित रहते हैं अर्थात् द्रव्य की प्रत्येक अवस्था में उसके साथ रहते हैं। प्रत्येक द्रव्य में अनेक गुण होते हैं। कुछ साधारण या सामान्य गुण होते हैं और कुछ असाधारण या विशेष गुण। अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व और प्रदेशत्व—ये सभी द्रव्यों में पाए जाने वाले सामान्य गुण हैं (चेतना, ज्ञान, दर्शन आदि जीव के विशेष गुण हैं तथा रूप, रस, गध, स्पर्श आदि पुद्गल के विशेष गुण हैं। गतिहेतुत्व, स्थितिहेतुत्व, वर्तनाहेतुत्व और अवगाहनत्व—ये क्रमशः धर्म, अधर्म, काल और आकाश के विशेष गुण हैं।)

गुणप्रत्यय—सम्यग्दर्शन से युक्त अणुव्रत और महाव्रत रूप गुण जिस अवधिज्ञान की उत्पत्ति में प्रमुख है वह गुण-प्रत्यय-अवधिज्ञान कहलाता है। मनुष्य और तिर्यकों के गुण-प्रत्यय-अवधिज्ञान ही सभव है।

गुणव्रत—जो गुणों को बढ़ाने वाले व्रत है वे गुणव्रत कहलाते हैं या जो अणुव्रतों का उपकार करते हैं उन्हे गुणव्रत कहते हैं। दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत—ये तीन गुणव्रत हैं।

गुणश्रेणी-निर्जरा—जब कर्मों की निर्जरा प्रतिसमय क्रमशः असख्यात-गुणी-असख्यात-गुणी हो तो इसे गुणश्रेणी-निर्जरा कहते हैं।

गुणस्थान-मोह और योग के माध्यम से जीव के परिणामों में होने वाले उत्तार-चढ़ाव को गुणस्थान कहते हैं। जीवों के परिणाम यद्यपि अनन्त हैं परन्तु उन सभी को चौदह श्रेणियों में विभाजित किया गया है। चौदह गुणस्थानों के नाम इस प्रकार है—मिथ्यादृष्टि, सासादन-सम्पदादृष्टि, सम्पद-मिथ्यादृष्टि, अविरत-सम्पदादृष्टि, सयतासयत, प्रमत्त-सयत, अप्रमत्त-सयत, अपूर्वकरण-शुद्धि-सयत, अनिवृत्तिकरण-शुद्धि-सयत, सूक्ष्म-साम्पराय-शुद्धि-सयत, उपशान्त-कषाय-वीतराग-छद्मस्थ, क्षीणकषाय-वीतराग-छद्मस्थ, सयोग-केवली-जिन और अयोग-केवली-जिन।

गुप्ति-ससार के कारणभूत रागादि से जो आत्मा की रक्षा करे उसे गुप्ति कहते हैं। अथवा सम्यक् प्रकार से योगो का निग्रह करना गुप्ति है। अथवा मन, वचन काय की स्वच्छद प्रवृत्ति को रोकना गुप्ति है। मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति ये तीन गुप्ति हैं।

गुरु-गुरु शब्द का अर्थ महान् है। लोक में अध्यापक व माता-पिता को गुरु कहते हैं। मोक्षमार्ग में आचार्य, उपाध्याय और साधु ये तीन गुरु हैं। अहन्त भगवान त्रिलोक गुरु है। शिष्यों को जिनदीक्षा या प्रवृज्या देने वाले आचार्य को दीक्षा-गुरु कहते हैं। जो प्रायश्चित्त आदि देकर शिष्य को दोष-मुक्त करते हैं और वैराग्यजनक परमागम द्वारा शिष्य का पोषण करते हैं वे निर्यापिक कहलाते हैं। उन्हे शिक्षा-गुरु या श्रुत-गुरु भी कहते हैं।

गुरुमूढ़ता-हिसादिपाप-क्रियाओं में और आरम्भ-परिग्रह में लिप्त रहने वाले साधुओं को गुरु मानकर उनकी भक्ति, वदना, प्रशसा आदि करना गुरुमूढ़ता है। इसे समय-मूढ़ता भी कहते हैं।

गुरुपास्ति—आचार्य आदि वीतरागी गुरुओं की पूजा करना तथा उनकी सेवा में सदा तत्पर रहना गुरुपास्ति है।

गृहीत-मिथ्यात्व—दूसरे के द्वारा मिथ्या उपदेश सुनकर जीवादि पदार्थों के विषय में जो अश्रद्धान रूप भाव उत्पन्न होता है उसे गृहीत-मिथ्यात्व कहते हैं।

गोचरी—गृहस्वामी के द्वारा लायी गई घास को खाते समय जैसे गाय घास को ही देखती है लाने वाले के रूप रग या स्थान की सजावट आदि को नहीं देखती उसी प्रकार साधु भी आहार देने वाले के रूप-रग, गरीबी-अमीरी आदि को न देखते हुए आहार ग्रहण कर लेते हैं इसलिए साधु की आहार चर्या गोचरी-वृत्ति कहलाती है।

गोत्र कर्म—1 जिस कर्म के उदय से जीव उच्च और नीच कहा जाता है या उच्च और नीच कुल में उत्पन्न होता है वह गोत्र-कर्म है। इसके दो भेद हैं—उच्च-गोत्र और नीच-गोत्र।

ग्रामदाह—जिस ग्राम में साधु आहार के लिए गए हैं यदि वहा अग्नि आदि का प्रकोप हो जाए तो यह ग्रामदाह नाम का अतराय है।

ग्रेवयक—वैमानिक देवों के जो विमान पुरुष की ग्रीवा के समान हैं या जो लोक के ग्रीवा में स्थित हैं वे ग्रेवयक विमान कहलाते हैं।

ग्लान—जिनका शरीर रोग आदि से पीड़ित हो उस साधु को ग्लान कहते हैं।

घ

घडी—चौबीस मिनिट की एक घडी होती है। दो घडी का एक मुहूर्त और तीस मुहूर्त का एक दिन-रात होता है।

घातिया-कर्म—जीव के गुणों का धात करने वाले अर्थात् गुणों को ढकने वाले या विकृत करने वाले ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, अन्तराय और मोहनीय इन चार कर्मों को घातिया-कर्म कहते हैं।

घृतस्रावी ऋद्धि—जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु के हाथ में दिया गया रुखा-सूखा आहार तत्काल धी के समान रसवाला हो जाता है उसे घृतस्रावी या सर्पिस्रावी ऋद्धि कहते हैं।

घोरतप ऋद्धि—जिस ऋद्धि के प्रभाव से ज्वर आदि से पीड़ित होने पर भी साधु अत्यन्त कठिन तप करने में सक्षम होते हैं वह घोर-तप ऋद्धि है।

घोर-पराक्रम-तप ऋद्धि—जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु अनुपम तप करते हुए तीन लोक के सहार की शक्ति से सपन्न और सहसा समुद्र के जल को सुखा देने की सामर्थ्य से युक्त होते हैं वह घोर पराक्रम-तप-ऋद्धि है।

घोर-ब्रह्मचर्य-तप ऋद्धि—जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु सब गुणों से सपन्न होकर अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, उसे घोर-ब्रह्मचर्य-तप ऋद्धि कहते हैं। इसके प्रभाव से साधु के समीप चौरादिक की बाधाएं और महायुद्ध आदि नहीं होते।

ग्राण-इन्द्रिय—जिसके द्वारा ससारी जीव गध का ज्ञान करते हैं उसे ग्राण-इन्द्रिय कहते हैं।

च

चक्रवर्ती—आर्य-खण्ड आदि छह खण्डों के अधिपति और वत्तीस हजार राजाओं के स्वामी को चक्रवर्ती कहते हैं। ये नौ निधियों और चौदह रत्नों के स्वामी होते हैं।

चक्षु-इन्द्रिय—जिसके द्वारा सभी जीव पदार्थों को देखता है उसे चक्षु-इन्द्रिय कहते हैं।

चक्षुदर्शन—चक्षु इन्द्रिय के द्वारा पदार्थ का ज्ञान होने से पूर्व जो सामान्य प्रतिभास होता है वह चक्षुदर्शन है।

चतुरिन्द्रिय-जीव—जिनके स्पर्शन, रसना, ग्राण और चक्षु ये चार इन्द्रियां होती हैं वे चतुरिन्द्रिय जीव कहलाते हैं। जैसे—मक्खी, भौंरा आदि।

चतुर्दशपूर्वी—जो साधु सपूर्ण आगम अर्थात् ग्यारह अङ्ग व चौदह पूर्व में पारगत है और श्रुतकेवली कहलाते हैं उनके चतुर्दशपूर्वी नामक बुद्धि ऋद्धि होती है।

चतुर्मुखपूजा—राजाओं द्वारा जो सर्व कल्याणकारी महायज्ञ किया जाता है उसे चतुर्मुखपूजा कहते हैं। इसे सर्वतोभद्र पूजा भी कहते हैं।

चतुर्विंशतिस्तत्व—जिसमें चौबीस तीर्थकरों की वदना करने की विधि, उनके नाम, स्थान, ऊचाई, पात्र कल्याणक, चौंतीस अतिशयों के स्वरूप और वदना की सफलता का वर्णन किया गया है वह चतुर्विंशतिस्तत्व नाम का अङ्ग-वाह्य कहलाता है।

चतुर्विंध-संघ—मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका इन चारों के समुदाय को चतुर्विंध-संघ कहते हैं।

चन्द्रप्रज्ञप्ति—चन्द्रमा की आयु, परिवार, ऋद्धि, गति और विम्ब की ऊचाई आदि का वर्णन करने वाला चन्द्रप्रज्ञप्ति नाम का परिकर्म है।

चन्द्रप्रभ—अष्टम तीर्थकर। इनका जन्म इक्ष्याकु वशी राजा महसेन और रानी लक्षणा के यहा हुआ। इनको आयु दस लाख वर्ष पूर्व और शरीर की ऊचाई एक सौ पचास धनुष थी। शरीर की आभा श्वेत थी। एक दिन शरीर की नश्वरता का चितन करते-करते विरक्त होकर गृहत्याग कर दिया और जिनदीक्षा ले ली। तीन माह तक कठिन तपस्या के उपरात इन्हे केवलज्ञान हुआ। इनके समवसरण में दत्त आदि तेरानवे गणधर, लगभग तीन लाख मुनि, तीन लाख अस्सी हजार आर्यिकाएं, तीन लाख श्रावक व पाच लाख श्राविकाएं थीं। इन्होंने सम्प्रदायिखर से निर्वाण प्राप्त किया।

चणपुर—विहार प्रात की एक नगरी जहा तीर्थकर वासुपूज्य के पाचों कल्याणक हुए।

चरणानुयोग—जिसमें मुख्य रूप से गृहस्थ और मुनियों के व्रत, नियम और सयम का वर्णन किया गया हो वह चरणानुयोग है। इस अनुयोग की कथन पञ्चति का प्रयोजन यह है कि जीव पाप कार्य को छोड़कर व्रत निप्त रूप धर्म कार्य में लगे, कपाय को मद करे और क्रमशः वीतराग-भाव को प्राप्त करे।

चरम-शरीर—चरम का अर्थ अंतिम है। जिस जीव को उसी भव से मोक्ष प्राप्त होना है उस जीव का शरीर चरम-शरीर कहलाता है।

चर्या-परीपह-जय—जो साधु अपने गुरु की आङ्गा से अतिथि की तरह एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में गमन करता है और मार्ग में तीक्ष्ण ककड़,

काटे आदि के विधन से उत्पन्न हुई पीड़ा को समता पूर्वक सहन करता हुआ अपने छह आवश्यकों का पालन दृढ़ता पूर्वक करता है उस साधु के यह चर्या-परीष्ठह-जय है।

चल-दोष-जल में उठने वाली तरगों के समान श्रद्धान का चलायमान होना चल-दोष है। जैसे जल में अनेक लहरे उठती हैं और शात हो जाती है उसी प्रकार क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि के मन में अनेक विचार उठते हैं। यद्यपि सभी तीर्थकर या अर्हन्त भगवान एक समान होते हैं पर कभी ऐसा विचार आ जाता है कि श्री शांतिनाथजी शान्ति देने वाले और श्री पाश्वर्नाथ जी विघ्न-वाधा दूर करने वाले हैं। यही क्षयोपशम सम्यग्दर्शन का 'चल' नामक दोष है।

चलित-रस-धी, दूध, दही आदि रसों का स्वाद बिगड़ जाने पर उन्हें चलित-रस कहते हैं। चलित रस अभक्ष्य है।

चारित्र-मोहनीय कर्म-जिस कर्म के उदय से जीव के असयम भाव होता है वह चारित्र-मोहनीय कर्म है अथवा वाह्य में पापों से निवृत्ति और अत्तरग में कषाय का अभाव होना चारित्र है। जिस कर्म के उदय से जीव चारित्र को ग्रहण नहीं कर पाता वह चारित्र-मोहनीय कर्म कहलाता है। चारित्र मोहनीय कर्म दो प्रकार का है—कषाय वेदनीय और नो कषाय वेदनीय। कषाय के सौलह भेद हैं—अनन्तानुवधी-क्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यान-क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रत्याख्यान-क्रोध, मान, माया, लोभ, सञ्चलन-क्रोध, मान, माया, लोभ। नो कषाय के नौ भेद हैं—हास्य, रति, अरति, शोक, शय, जुगुप्ता, स्त्री वेद, पुरुष वेद और नपुसक वेद।

चारित्र-विनय—महान आत्माओं के श्रेष्ठ चारित्र का वर्णन सुनते ही रोमांचित होकर अतरग भवित प्रकट करना, प्रणाम करना, मस्तक पर अजुलि रखकर आदर प्रकट करना और श्रद्धा-पूर्वक स्वय चारित्र के पालन करने में तत्पर रहना चारित्र-विनय है।

चारित्राचार—पाच महाव्रत, पाच समिति और तीन गुप्ति रूप सम्यक्-चारित्र का पालन करना चारित्राचार कहलाता है।

चिकित्सा-दोष—यदि साधु चिकित्सा के उपाय बताकर आहार प्राप्त करे तो यह चिकित्सा-दोष है।

चित्रा-पृथिवी—पध्यलोक की एक हजार योजन मोटी पृथिवी, चित्रा-पृथिवी कहलाती है। यह चित्र-विचित्र अनेक प्रकार की धातुओं, मृत्तिका, पाषाण और अनेक मणियों से युक्त है इसलिए इसे चित्रा-पृथिवी कहते हैं।

चूर्ण-दोष—यदि साधु शरीर की शोभा बढ़ाने वाले विभिन्न प्रकार के चूर्णों की विधि बताकर आहार प्राप्त करे तो यह चूर्ण-दोष है।

चूलिका—जिसमे एक, दो या सब अनुयोग-द्वारो द्वारा कहे गये विषय की विशेष या संक्षिप्त जानकारी दी जाती है उसे चूलिका कहते हैं। चूलिका के पाच भेद हैं—जलगता, आकाशगता, रूपगता, स्थलगता और मायागता।

चेतना—अनुभव रूप भाव का नाम चेतना है या जिस शक्ति के द्वारा आत्मा ज्ञाता-दृष्टा या कर्ता-भोक्ता होता है उसे चेतना कहते हैं। चेतना जीव का स्वभाव है। चेतना तीन प्रकार की मानी गयी

ह—ज्ञान-चेतना, कर्म-चेतना, कर्मफल-चेतना ।

चैत्यालय—जिनविव को चेत्य कहते हे । चेत्य के आश्रयभूत स्थान को जिनालय या चैत्यालय कहा जाता है । ये दो प्रकार के होते हे—कृत्रिम चैत्यालय और अकृत्रिम-चैत्यालय । मनुष्य लोक मे मनुष्यो के द्वारा निर्मित जिनमंदिर कृत्रिम-चैत्यालय कहलाते हे । शाश्वत स्वप्रतिष्ठित और सदेव प्रकाशित रहने वाले जिन-मंदिर अकृत्रिम-चैत्यालय कहलाते हे ।

चैत्यवृक्ष—जिस वृक्ष के आश्रित अर्हन्त प्रतिमाए होती हे उसे चैत्यवृक्ष कहते है । एक-एक चैत्यवृक्ष के आश्रित आठ प्रातिहार्य से युक्त चार-चार मणिमय अर्हन्त प्रतिमाए होती है । समवसरण मे अशोक, सप्तच्छद, चम्पक और आम्र—ऐसे चार प्रकार के चैत्यवृक्ष होते हे । इनकी ऊचाई अपने-अपने तीर्थकर से बारह गुनी होती हे ।

चौर्यानन्द—तीव्र क्रोध व लोभ क वशीभूत होकर निरन्तर चोरी का विचार करना, चोरी का उपदेश देना, चोरी करके हर्षित होना, चारी के माल का क्रय-विक्रय आदि करना चौर्यानन्द नाम का रोद्ध-ध्यान है ।

च्यावित—अकाल मरण के द्वारा जीव का जो शरीर असमय म ही छूट जाता है वह च्यावित-शरीर हे ।

च्युत—आयु पूर्ण हो जाने पर पके हुए फल के समान जीव का जो शरीर स्वत छूट जाता है उसे च्युत-शरीर कहते हे ।

४

छद्यस्थ—ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय को छद्य कहते हैं। उसमें जो रहते हैं उन्हे छद्यस्थ कहते हैं। आशय यह है कि जो जीव ज्ञानावरणीय एवं दर्शनावरणीय आदि घातिया कर्मों से युक्त है वे छद्यस्थ कहलाते हैं। केवलज्ञान होने से पूर्व सभी जीव छद्यस्थ या ससारस्थ हैं।

छर्दि—आहार के समय यदि साधु को वमन हो जाए तो यह छर्दि नाम का अन्तराय है।

छाया—प्रकाश के आवरण रूप शरीरादि की जो परछाई पड़ती है उसका नाम छाया है। छाया दो प्रकार की है—रूपण में बने प्रतिविवरूप और रगों से निर्मित आकृति या चित्र रूप।

छिन्न-निमित्त—किसी के द्वारा छेदे गये वस्त्र, शस्त्र आदि को देखकर तथा खण्डित भवन, नगर एवं टेश आदि को देखकर शुभ-अशुभ एवं सुख-दुःखादि को जान लेना छिन्न-निमित्तज्ञान कहलाता है।

छेद-पूर्व दीक्षा को छेदना अर्थात् दीक्षा को एक दिन, एक पक्ष, एक महीना आदि कम कर देना छेद नाम का प्रायश्चित्त है। जो साधु व्रतों में वार-वार दोष लगाता है तथा सामर्थ्यवान ओर अभिमानी है उसे छेद-प्रायश्चित्त दिया जाता है।

छेदोपस्थापना-चारित्र—१ प्रमादवश व्रतों में दोष लग जाने पर प्रायश्चित्त आदि द्वारा उसका शोधन करके पुन व्रतों में स्थिर होना

छेदोपस्थापना चारित्र है। २ निर्विकल्प साम्य अवस्था में अधिक समय न रह पाने पर साधक विकल्प रूप अर्थात् भेद रूप मूलगुणों का आलम्बन लेता है यही छेदोपस्थापना-चारित्र है।

ज

जह्नाचारण-ऋद्धि—जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु पृथिवी से चार अगुल ऊपर आकाश में घटनों को मोड़े विना गमन करने में समर्थ होते हैं वह जह्नाचारण-ऋद्धि कहलाती है।

जन्तु-वध—साधु के आहार करते समय किसी जीव-जन्तु आदि का घात हो जाने पर जन्तु-वध नाम का अन्तराय होता है।

जन्म—जीव के नवीन शरीर की उत्पत्ति होना जन्म कहलाता है। जीवों का जन्म तीन प्रकार से होता है—गर्भ-जन्म, सम्पूर्ण-जन्म और उपपाद-जन्म।

जन्म-कल्याणक—तीर्थकर के जन्म का उत्सव जन्मकल्याणक कहलाता है। इस अवसर पर सोधर्म इन्द्र आदि सभी इन्द्र व देवगण भगवान का जन्मोत्सव मनाने वडी धूमधाम से पृथिवी पर आते हैं। कुवेर नगर की अद्भुत शोभा करता है। सौधर्म इन्द्र की आङ्गा से इन्द्राणी भगवान की माता को मायामयी निद्रा में सुलाकर बालक भगवान को लाती है और इन्द्र की गोद में देती है। ऐरावत हाथी पर भगवान को लेकर इन्द्र सुमेरु पर्वत की ओर जाता है। वहाँ पहुचकर पाढ़ुक शिला पर भगवान को विराजमान करके क्षीर समुद्र से लाए गए जल के द्वारा एक हजार आठ कलशों से अभिषेक करता है फिर बालक भगवान को दिव्य-वस्त्राभूषणों से अलकृत कर उत्सवपूर्वक नगर में लौट आता है। इस अवसर पर इन्द्र भवित्त-भाव से नृत्य आदि विभिन्न आश्चर्यजनक लीलाए करता है।

जम्बूद्वीप-मनुष्य लोक के ठीक मध्य में एक लाख योजन विस्तार वाला गोलाकार जम्बूद्वीप नाम का द्वीप है। यह जम्बूद्वीप सात क्षेत्रों में विभक्त है। भरत, हेमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हेरण्यवत और ऐरावत ये सात क्षेत्र हैं। जम्बूद्वीप के मध्य में एक लाख योजन ऊचा सुमेरु पर्वत है और जम्बूद्वीप को चारों ओर से घेरे हुए लवण समुद्र नाम का समुद्र है।

जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति-जम्बूद्वीप में मनुष्य, तिर्यच आदि का तथा पर्वत, नदी, वैदिका, अकृत्रिम चैत्यालय आदि का वर्णन जिसमें किया गया हो उसे जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति कहते हैं।

जय-जिनेन्द्र-जैनों में परस्पर विनय और प्रेमभाव प्रकट करने के लिए जय-जिनेन्द्र शब्द दोला जाता है।

जया-वाचना-जिनेन्द्र भगवान द्वारा कहे गए सिद्धान्त के अर्थ की व्याख्या करना जया-वाचना कहलाती है।

जरायुज-रक्त और मास से बने जाल के समान आवरण को जरायु कहत है। गर्भ-जन्म लेने वाले जां जीव जरायु सहित उत्पन्न होते हैं वे जरायुज कहलाते हैं।

जलकाय-जलकायिक जीव से रहित जल का जलकाय कहत है।

जलकायिक-जीव-जल ही जिसका शरीर है एस एकनिय जीव का जलकायिक-जीव कहते हैं।

जलगता-चूलिका-जल में गमन करने और जलस्तम्भन आदि में कारणभूत मत्र, तत्र और तपश्चरण स्पष्ट अतिशय का जिसमें वर्णन

होता है उसे जलगता-चूलिका कहते हैं।

जलगालन—जल को उपयोग में लेने से पहले स्वच्छ सफेद दुहरं छन्ने से छानना जलगालन कहलाता है।

जल-जीव—जो जीव जलकायिक में उत्पन्न होने के लिए विग्रहगति में जा रहा है उसे जल-जीव कहते हैं।

जल्लौषधि-ऋद्धि—जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु के शरीर पर पसीने के माध्यम से संचित हुई धूल भी ओषधि रूप हो जाती है उसे जल्लौषधि-ऋद्धि कहते हैं।

जाति—माता के वश को जाति कहते हैं।

जाति नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय कहलाता है वह जाति नामकर्म है।

जातिस्मरण—अपने पूर्व जन्म की किसी घटना विशेष का स्मरण हो आना जातिस्मरण कहलाता है।

जानुव्यतिक्रम—यदि साधु घुटने के बराबर ऊचे काष्ठ आदि को लाघ कर आहार के लिए जाए तो यह जानुव्यतिक्रम नाम का अन्तराय है।

जान्वध-परामर्श—यदि कारणवश साधु आहार के समय अपने घुटने के नीचे हाथ से स्पर्श करें तो यह जान्वध परामर्श नाम का अन्तराय है।

जिन—जिन्होंने काम, क्रोध, मोह आदि विकारों को जीत लिया है वे

जिन कहलात हैं। जिन दो प्रकार के हैं—सकल जिन और देश-जिन। आचाय, उपाचाय और मायु उश-जिन हैं तथा अहन्त और सिद्ध भगवान् मकल-जिन हैं।

जिनकृती—जिन्होंने गग, दूँप और माह को जोत लिया है जो उपसर्ग व परोपह को समतापृथक् सहन करते हैं और जो जिनन्द्र भगवान् के समान विहार आनि चया करते हैं ऐसे उत्तम सहनन और साधायिक चारित्र के धारी महामुनि जिनकल्पी कहलाते हैं।

जिनविवेद—जिनन्द्र भगवान् को निरावरित, निर्विकार/वीतराग प्रतिमा को जिनविवेद कहते हैं।

जिनलिंग—जिनन्द्र भगवान् के समान अतरग में वीतरागता और वाह्य म परिग्रह से गहित निर्विकार यथाजात वालकवत् स्तप धारण करना जिनलिंग या जिनमुद्रा कहलाती है।

जिनवाणी—सब जीवा के हित का उपदेश देने वाली श्री अहन्त भगवान् की वाणी ही जिनवाणी कहलाती है। तत्त्व का स्वरूप वताने वाली यह जिनवाणी द्वादशांग स्तप होती है।

जिनालय—देखिए—चेत्यालय।

जीव—जो जानता-देखता है उसे जीव कहते हैं। या जिसमें चेतना है वह जीव है। जीव दो प्रकार के हैं—सासारी जीव और मुक्त जीव। जो जीव सासार में निरतर जन्म-मरण का दुख भोग रहे हैं वे सासारी जीव हैं। जो जीव अपने आत्म-पुरुषार्थ के द्वारा जन्म-मरण के चक्र से मुक्त होकर सासार से पार हो जाते हैं वे मुक्त-जीव कहलाते हैं।

जीवविपाकी—जिन कर्मों का विपाक अर्थात् फल मुख्यतः जीव में होता है।

है वे जीवविपाकी कर्म कहलाते हैं। इन कर्मों के उदय से जीव के ज्ञान-दर्शन आदि गुण ढक जाते हैं।

जीव-समास—जीव और उनके भेद-प्रभेदों का जिसमें सग्रह किया जाए उसे जीव-समास कहते हैं। चौदह जीव-समास प्रसिद्ध हैं—एकंन्द्रिय वादर व सूक्ष्म (पर्याप्त-अपर्याप्त), द्वीन्द्रिय (पर्याप्त-अपर्याप्त), त्रीन्द्रिय (पर्याप्त-अपर्याप्त), चतुरन्द्रिय (पर्याप्त-अपर्याप्त) एवं पचेन्द्रिय-सङ्गी व असङ्गी (पर्याप्त-अपर्याप्त)।

जीव-सपात—आहार करते समय यदि साधु के दोनों पैरों के बीच में कोई जीव गिर जाए तो यह जीव-सपात नाम का अन्तराय है।

जीवानी—जल छानने के पश्चात् शेष बचे जल को सावधानी-पूर्वक उसी जलाशय में डालना यह जीवानी कहलाती है।

जुगुप्सा—घृणा या ग्लानि होना जुगुप्सा है। जिस कर्म के उदय से अपने दोषों को ढकने और दूसरे के दोषों को प्रकट करने का भाव उत्पन्न होता है या दूसरे के प्रति घृणा होती है वह जुगुप्सा नामक नोकषाय है।

जुहार—परस्पर नमस्कार करने के लिए जुहार शब्द का प्रयोग किया जाता है। जुहार शब्द का अर्थ है युग के प्रारंभ में सर्व सकटों को हरने वाले और सब जीवों की रक्षा करने वाले भगवान् ऋषभदेव को प्रणाम हो।

जैन—जिन्होने काम, क्रोध, मोह आदि विकारों को जीत लिया है वे जिन या जिनेन्द्र कहलाते हैं। जिनेन्द्र भगवान के उपासक को जैन

कहते हैं।

जैनदर्शन-जिसके द्वारा जीवन का ओर जीवन के विकास का ज्ञान प्राप्त किया जाए उसे दर्शन कहते हैं। जिनेन्द्र भगवान के द्वारा प्रतिपादित दर्शन ही जैनदर्शन है। जैनदर्शन आत्मा, परमात्मा और पुनर्जन्म में विश्वास करता है। जैनदर्शन के अनुसार आत्मा की परम-विशुद्ध अवस्था ही परमात्मा है जिसे प्रत्येक आत्मा अपने आत्म-पुरुषार्थ के द्वारा प्राप्त कर सकता है।

जैनाचार-जिनेन्द्र भगवान के द्वारा जो श्रावक और साधु के योग्य आचरण का उपदेश दिया गया है वह जैनाचार है। जैनाचार का मूल¹ आधार अहिंसा है।

ज्ञात-भाव-‘इसे मारना है, या इसे बचाना है’—इस प्रकार जानवृक्षकर प्रवृत्ति करना ज्ञात-भाव है।

ज्ञातृधर्मकथाङ्ग-जिसमें अनेक आख्यान और उपाख्यानों का वर्णन है वह ज्ञातृधर्मकथाङ्ग है।

ज्ञान-जो जानता है वह ज्ञान है या जिसके द्वारा जाना जाए वह ज्ञान है। या जानना मात्र ही ज्ञान है। ज्ञान जीव का विशेष गुण है। सम्यग्दर्शन के सद्भाव में यह सम्यग्ज्ञान कहलाता है और मिथ्यात्म के उदय में यह मिथ्याज्ञान हो जाता है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये पाच सम्यग्ज्ञान के भेद हैं। कुमति, कुश्रुत और विभग-अवधिज्ञान ये तीन मिथ्याज्ञान हैं। इस प्रकार ज्ञानोपयोग के आठ भेद हैं। ज्ञान स्व-पर प्रकाशक होता है।

ज्ञान-कल्याणक-तीर्थकरों के केवलज्ञान के अवसर पर होने वाला उत्सव ज्ञान-कल्याणक कहलाता है। इस अवसर पर सोधर्म इन्द्र की आज्ञा से कुदेर समवसरण की रचना करता है जिसमे देव, मनुष्य और तिर्यच जीव एक साथ बैठकर धर्मश्रवण करते हैं। तीर्थकर भगवान का विहार वडी धूमधाम से होता है। भगवान के श्रीचरणों में देवगण तत्परता से सुवर्णमय कमलों की रचना करते जाते हैं। आगे-आगे धर्मचक्र चलता है। सारा मार्ग आठ दिव्य मगत द्रव्यों से शोभित होता रहता है। ऋषि/मुनि भगवान के पीछे-पीछे चलते हैं। परस्पर विरोध रखने वाले जीव भी विरोध भूल जाते हैं। अत्यन्त सुखद और आत्मीय वातावरण निर्मित हो जाता है।

ज्ञान-चेतना-केवलज्ञान रूप शुद्ध चेतना को ज्ञान-चेतना कहते हैं।

ज्ञानदान-धर्म से अनभिज्ञ जीवों के लिए धर्म का उपदेश देना तथा आत्म-ज्ञान के साधनभूत शास्त्रादि सुपात्र को देना ज्ञानदान कहलाता है।

ज्ञान-प्रवाद-जिसमे मति, श्रुत आदि पाच ज्ञानों और पाच इन्द्रियों के विभाग आदि का विस्तृत वर्णन किया गया है वह ज्ञान-प्रवाद नाम का पाचवा पूर्व है।

ज्ञान-विनय-1 सम्यग्ज्ञान को अत्यत सम्मान-पूर्वक ग्रहण करना, उसका अध्यास करना और उसका स्मरण रखना ज्ञान-विनय है। 2 ज्ञान में, ज्ञान के उपकरण शास्त्र आदि मे एव ज्ञानवान् पुरुषों मे भक्ति और आदर-भाव रखना तथा उनके अनुकूल आचरण करना ज्ञानविनय है।

ठ

ठ ठ -स्थापित करना, पूजा के समय अपने हृदय में भगवान का स्थापित करने के लिए ठ ठ शब्द का प्रयोग होता है।

ण

णमोकार-मंत्र—“णमो अरिहताण, णमो सिद्धाण, णमो आयरियाण,
णमो उवज्ञायाण, णमो लोए सब्ब साहूण”—यह णमोकार मंत्र है।
इसका अर्थ है—अर्हन्तों को नमस्कार हो, सिद्धों को नमस्कार हो,
आचार्यों को नमस्कार हो, उपाध्यायों को नमस्कार हो और लोक में
सर्व साधुओं को नमस्कार हो। यह अनादि-निधन मंत्र है। षट्खडागम
ग्रथ के मण्गलाचरण के रूप में आचार्य पुष्पदन्त एव भूतवलि स्वामी
ने ईसा की पहली शताब्दी में इसे प्राकृत भाषा में पहली बार लिपिबद्ध
किया।

त

तत्त्व—जिस वस्तु का जो भाव है वही तत्त्व है। आशय यह है कि जो पदार्थ जिस रूप में अवस्थित है उसका उस रूप होना, यही तत्त्व शब्द का अर्थ है। तत्त्व सात है—जीव, अजीव, आत्मव, बध, सवर, निर्जरा और मोक्ष।

तत्त्ववती-धारणा—वारुणी धारणा के पश्चात् वह योगी सप्त धातु से रहित पूर्ण चद्र के समान निर्मल अपने आत्मा का ध्यान करता है, यह अंतिम तत्त्ववती-धारणा है।

तदाकार-स्थापना—धातु या पाषाण आदि में तीर्थकर आदि की वास्तविक आकार सहित मूर्ति बनाकर स्थापना करना तदाकार स्थापना कहलाती है।

तदुभय—1 दोपों को दूर करने के लिए आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों एक साथ करना तदुभय नाम का प्रायश्चित्त है। 2 अर्थ को ठीक-ठीक समझते हुए शुद्ध पाठ आदि पढ़ना तदुभय नाम का ज्ञानाचार है।

तन्तुचारण ऋद्धि—जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु मकड़ी के ततु के ऊपर चरण रखते हुए उसे विना वाधा पहुचाये गमन करने में समर्थ होते हैं वह तन्तुचारण-ऋद्धि कहलाती है।

तप—इच्छाओं का निरोध करना तप है। तप के द्वारा कर्मों की निर्जरा होती है। तप करने का उद्देश्य भी यही है। तप दो प्रकार का है—वाय्य तप और आध्यन्तर तप।

तप-प्रायश्चित—उपवास आदि तप के द्वारा अपने व्रतों में लगे दोषों की शुद्धि करना तप नाम का प्रायश्चित है।

तप-विनय—तप में और श्रेष्ठ तपस्वी जनों में भक्ति और अनुराग रखना तथा जो छोटे तपस्वी हैं उनकी एवं चारित्रिवान् मुनियों की अवहेलना नहीं करना तप-विनय है।

तपाचार—उत्साहपूर्वक बारह प्रकार के तप का आचरण करना तपाचार है।

तप्त-तप ऋद्धि—जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु के द्वारा खाया हुआ अन्न आदि मल मूत्र के रूप में परिणत नहीं होता वह तप्त-तप ऋद्धि कहलाती है।

तर्क-व्याप्ति के ज्ञान को तर्क कहते हैं। जैसे जहा-जहा धूम है वहा-वहा अग्नि है और जहा-जहा अग्नि नहीं है वहा-वहा धूम भी नहीं है।

तादात्म्य-सबध—जो निश्चय से समस्त अवस्थाओं में जिस स्वरूपने से व्याप्त रहे उसका उसके साथ तादात्म्य-सबध होता है जैसे—अग्नि का उज्ज्वलता के साथ तादात्म्य-सबध है। तादात्म्य सबध दो प्रकार का है—त्रैकालिक तादात्म्य और क्षणिक तादात्म्य। द्रव्य का अपने गुणों के साथ त्रैकालिक तादात्म्य होता है, जैसे—जीव का ज्ञान आदि अनन्त गुणों के साथ त्रैकालिक तादात्म्य है। द्रव्य का अपनी पर्यायों के साथ क्षणिक-तादात्म्य रहता है, जैसे—रागद्वेष आदि विकारी भावों के साथ जीव का क्षणिक तादात्म्य-सबध है।

तामसिक-दान—जिसमे पात्र-अपात्र का विवेक न किया गया हो, अतिथि का सत्कार न किया गया हो, जो निन्दनीय हो और सेवक से दिलाया गया हो, ऐसे दान को तामसिक-दान कहते हैं।

तिर्यच—पाप कर्म के उदय से जो तिरोभाव को प्राप्त होते हैं वे तिर्यच हैं। तिरोभाव का अर्थ है नीचे रहना, बोझा ढोना। बनस्पति आदि एकेन्द्रिय, कीट पत्तग आदि विकलेन्द्रिय और जलचर, थलचर, नम्भचर आदि पचेन्द्रिय के भेद से तिर्यच अनेक प्रकार के होते हैं। श्रेष्ठ जाति के हाथी, घोड़े, सिंह आदि तिर्यच जीवों में अणुव्रत पालन करने की क्षमता रहती है।

तीर्थकर—जिसके आश्रय से भव्य जीव ससार से पार उतरते हैं वह तीर्थ कहलाता है। तीर्थ का अर्थ धर्म भी है। इसलिए तीर्थ या धर्म का प्रवर्तन करने वाले महापुरुष को तीर्थकर कहते हैं। आत्मा में तीर्थकर बनने के सस्कार मनुष्य-भव में किन्हीं केवली भगवान् या श्रुत-केवली महाराज के चरणों में वेठकर दर्शनविशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओं के चिन्त्तवन से प्राप्त होते हैं। भरत और ऐरावत क्षेत्र में चौबीस-चौबीस तीर्थकर होते हैं। विदेह क्षेत्र में सदा बीस तीर्थकर विद्यमान रहते हैं।

तीर्थकर नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव को तीनों लोक में पूज्यता प्राप्त होती है उसे तीर्थकर नामकर्म कहते हैं अथवा जिस कर्म के उदय से जीव पाच कल्याणकों को प्राप्त करके तीर्थ या धर्म का प्रवर्तन करता है, उसे तीर्थकर नामकर्म कहते हैं।

तीर्थ—जिसके आश्रय से भव्य जीव ससार से पार उतरते हैं वह तीर्थ

कहलाता है। तीर्थ का अर्थ धर्म भी है। धर्म की प्राप्ति मे सहायक श्री महावीर जी, श्री अतरिक्ष पाश्वनाथ जी, श्री गोमटेश वाहुवली आदि अतिशय क्षेत्र और श्री सम्प्रदेशिखर जी, श्री पावापुरजी आदि निर्वाण क्षेत्र भी तीर्थ कहलाते हैं।

तीर्थयात्रा—अकार्य से निवृत्त होना यही तीर्थयात्रा है।

तृणस्पर्श-परीपह-जय—जो साधु चलते, वैठते या शयन करते समय सूखे तिनके, ककर, पत्थर, काटे आदि चुभने पर उत्पन्न होने वाली पीड़ा को समतापूर्वक सहन करते हैं और जीव-रक्षा मे तत्पर रहते हैं उनके यह तृण-स्पर्श-परीपह-जय हैं।

तेजोलेश्या—जो कर्तव्य-अकर्तव्य को जानता हो, सबमे सम्भाव रखता हो, दया ओर दान मे तत्पर हो, मृदुभाषी ओर ज्ञानी हो—ये सब तजो-लेश्या या पीत-लेश्या के लक्षण हैं।

तैजस-शरीर—स्थूल शरीर मे दीप्ति या तेज मे कारणभूत जो सूक्ष्म शरीर होता है उसे तैजस-शरीर कहते हैं। यह दो प्रकार का है—नि सरणात्मक तैजस और अनि सरणात्मक तैजस।

तैजस-समुद्घात—जीवो के अनुग्रह ओर विनाश मे समर्थ तैजस-शरीर का बाहर फेलना तैजस-समुद्घात कहलाता है। यह नि सरणात्मक तैजस-शरीर हे जो दो प्रकार का हे—शुभ-तैजस ओर अशुभ तैजस।

त्वक्स्त-दोष—दाता के द्वारा दिए गए आहार मे से यदि साधु वहुत ता आहार नीचे गिराते हुए आहार ग्रहण करे या अधिक मात्रा मे ग्रह आदि अजलि मे मे झगता हों तो यह त्वक्त नाम का दोष हे।

त्यक्त-शरीर-सत्त्वेखनापूर्वक जो शरीर छोड़ा जाता है उसे त्यक्त-शरीर कहते हैं।

त्याग-1 सचेतन और अचेतन समस्त परिग्रह की निवृत्ति को त्याग कहते हैं। 2 परस्पर प्रीति के लिए अपनी वस्तु को देना त्याग है। 3 सयमी जनों के योग्य ज्ञान आदि का दान करना त्याग कहलाता है।

त्रस-जिनके त्रस नामकर्म का उदय है वे त्रस जीव कहलाते हैं। लोक में दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पचेन्द्रिय आदि जो जीव दिखाई देते हैं वे सभी त्रस जीव हैं। दो-इन्द्रिय, तीन-इन्द्रिय और चार-इन्द्रिय जीवों को विकलेन्द्रिय कहते हैं। पचेन्द्रिय जीव सकलेन्द्रिय कहलाते हैं।

त्रसधात-जिन पदार्थों के सेवन में त्रस जीवों का धात होता है ऐसे मास, शहद आदि पदार्थ त्रसधात नामक अभक्ष्य कहलाते हैं।

त्रस-नामकर्म-जिस कर्म के उदय से जीव द्वीन्द्रिय आदि रूप त्रस पर्याय में जन्म लेता है उसे त्रस-नामकर्म कहते हैं।

त्रसनाली-जिस प्रकार वृक्ष के मध्य में सार भाग होता है उसी प्रकार लोक के मध्य-भाग में एक राजू लम्बी-चौड़ी और कुछ कम तेरह राजू ऊंची त्रसनाली है। त्रस जीव इस त्रसनाली के भीतर ही रहते हैं, बाहर नहीं।

त्रीन्द्रिय-जीव-जिनके स्पर्शन, रसना और घ्राण ये तीन इन्द्रिया होती हैं वे त्रीन्द्रिय जीव कहलाते हैं। जैसे—चींटी आदि।

द

दम—इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना दम कहलाता है।

दया—दीन-दुखी जीवों के प्रति अनुग्रह या उपकार का भाव होना दया या करुणा है।

दर्शन—1 जो मोक्षमार्ग को दिखावे वह दर्शन है। मोक्षमार्ग सम्यग्दर्शन, सयम और उत्तम क्षमादि धर्म रूप है। अतः बाह्य में निर्ग्रथ और अतरंग में वीतरागी मुनि के रूप को दर्शन कहा है। 2 दर्शन का अर्थ मत है। 3 जिसके द्वारा देखा जाए उसे दर्शन कहते हैं या वस्तु के आकार-प्रकार को ग्रहण न करके जो मात्र निर्विकल्प रूप से सामान्य अवलोकन होता है उसे दर्शन कहते हैं। यही दर्शनोपयोग कहलाता है जो निराकार होता है। इसके चार भेद हैं—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन।

दर्शन-क्रिया—रागवश रमणीय रूप देखने का अभिप्राय होना दर्शन-क्रिया है।

दर्शन-प्रतिमा—निर्मल सम्यग्दर्शन के साथ अष्टमूलगुण का पालन करना और सप्त व्यसन का त्याग करना यह श्रावक की पहली दर्शन-प्रतिमा है।

दर्शनमोहनीय कर्म—जिस कर्म के उदय से सच्चे देव शास्त्र गुरु के प्रति अश्रद्धान होता है या श्रद्धान की अस्थिरता होती है वह दर्शन मोहनीय कर्म है। यह तीन प्रकार का है—सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व।

दर्शनविनय—शकादि दोषों से रहित तत्त्वार्थ का श्रद्धान करना और सच्चे देव शास्त्र गुरु की पूजा भवित्ति आदि में तत्पर रहना दर्शन-विनय है।

दर्शन-विशुद्धि—सम्यग्दर्शन का अत्यत निर्मल व दृढ़ होना दर्शन-विशुद्धि कहलाती है। सोलह-कारण-भावना में यह प्रथम भावना है। इसके होने पर ही तीर्थकर प्रकृति का वध सभव होता है।

दर्शनाचार—नि शंकित आदि आठ अङ्ग युक्त सम्यग्दर्शन का पालन करना अर्थात् उस रूप आचरण करना दर्शनाचार कहलाता है।

दर्शनावरणीय कर्म—जिस कर्म के उदय से जीव का दर्शन गुण आवरित हो जाता है उसे दर्शनावरणीय कर्म कहते हैं। यह नौ प्रकार का है—चक्षु-दर्शनावरणीय, अचक्षुदर्शनावरणीय, अवधिदर्शनावरणीय, केवलदर्शनावरणीय, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला और स्त्यानगृद्धि।

दशवैकालिक—जिसमें साधुओं की आचार-विधि और गोचर-विधि अर्थात् आहार-चर्या की विधि का वर्णन हो उसे दशवैकालिक कहते हैं।

दशमशक-परीषह-जय—मच्छर, मक्खी, चींटी आदि के द्वारा पीड़ा पहुचाये जाने पर जो साधु उसे समता पूर्वक सहन कर लेता है उसके यह दशमशक-परीषह-जय हैं।

दान—परोपकार की भावना से अपनी वस्तु का अर्पण करना दान कहलाता है। दान चार प्रकार का है—आहार-दान, ओषधि-दान, उपकरण या ज्ञान-दान और अभयदान। दान के चार शेद और भी

हे—करुणा-दान या दया-दत्ति, पात्र-दत्ति, समदत्ति और सकल-दत्ति । भावो की अपेक्षा दान तीन पकार का हे—राजसिक, तापसिक और सात्त्विक ।

दानान्तराय कर्म—जिस कर्म के उदय से जीव दान देने की इच्छा करता हुआ भी दान नहीं दे पाता वह दानान्तराय कर्म हे ।

दायक दोष—जो मदिरापान आदि व्यसन करता हो, रोगी हो, अतिवाल या अतिवृद्ध हो, अशुद्ध हो, ऐसा अयोग्य दाता यदि साधु को आहार देता है तो यह दायक नाम का दोष हे ।

दिगम्बर साधु—जो वस्त्र आभूषण आदि समस्त परिग्रह का त्याग करके वालकवत् निर्विकार निर्ग्रथ रूप धारण करते हे और इन्द्रिय-विजयी होते हे वे दिगम्बर-साधु कहलाते हे ।

दिग्व्रत—जीवन-पर्यात दशो दिशाओं की सीमा करके ‘मे इससे बाहर नहीं जाऊगा’—ऐसा सकल्प करना दिग्व्रत कहलाता हे ।

दिव्यध्वनि—केवलज्ञान होते ही अहन्त भगवान के मुख से जो सब जीवों का कल्याण करने वाली ओकार रूप वाणी खिरती है उसे दिव्यध्वनि कहते हे । यह सर्वभाषाओं से युक्त होती है और मनुष्य, तिर्यंच आदि सभी की भाषा मे सुनाई देती हे । तीर्थकर के समवसरण मे सुवह, दोपहर, शाम और अर्धरात्रि के समय छह-छह घड़ी तक दिव्य ध्वनि खिरती है । इसके अतिरिक्त गणधर, इन्द्र या चक्रवर्ती आदि के द्वारा प्रश्न पूछे जाने पर शोष समयो मे भी दिव्यध्वनि खिरती है ।

दीक्षा-कल्याणक-नीर्थकर को दीक्षा के अवसर पर होने वाला उत्सव दीक्षा या तप कल्याणक कहलाता है। नीर्थकरों को वेराग्य उत्पन्न होते ही नीकार्निक दव आकर उनके वेराग्य की प्रशसा करते हैं। इन्द्र उनका अभिषक्त करके उन्हें वस्त्राभूषण से अलकृत करता है। कुवेर द्वारा निर्मित पालकी भं भगवान स्वयं बैठ जाते हैं। इस पालकी कां पहलं तो मनुज्य कधों पर लैकर कुछ दूर पृथिवी पर चलते हैं फिर टेव उसे आकाश मार्ग सं ले जाते हैं। तपोवन में पहुचकर समस्त वस्त्राभूषणों को त्यागकर तीर्थकर केशलुचन करके दिगम्बर मुद्रा धारण कर लेते हैं। इन्द्र केशों को एक मणिमय पिटारे में रखकर क्षीरसागर में विसर्जित करता है। 'नम सिद्धेभ्य' कहकर तीर्थकर स्वयं दीक्षा ले लेते हैं, वे स्वयं जगदगुरु हैं। अपना नियम पूरा होने पर वे आहार-चर्या के लिए नगर में जाते हैं और विधिपूर्वक आहार लेते हैं, आहार दने वाले दाता के घर में रत्नवृष्टि आदि पच-आश्चर्य होते हैं।

दीप्त-तप-ऋद्धि-जिस ऋद्धि के प्रभाव से निरतर उपवास करने पर भी साधु के शरीर की दीप्ति बढ़ती ही जाती है वह दीप्त-तप ऋद्धि कहलाती है।

दुर्भग-नामकर्म-जिस कर्म के उदय से जीव रूपादि गुणों से युक्त होकर भी अप्रीतिकर लगता है उसे दुर्भग-नामकर्म कहते हैं।

दु-ख-पीड़ा रूप आत्मा का परिणाम ही दु-ख है। दु-ख चार प्रकार का है—भूख, प्यास आदि से उत्पन्न स्वाभाविक दु-ख, सर्दी गर्मी आदि से उत्पन्न नैमित्तिक दु-ख, रोगादि से उत्पन्न शारीरिक दु-ख तथा वियोग आदि से उत्पन्न मानसिक दु-ख।

दुःश्रुति—जिन शास्त्रों या पुस्तकों में हसी-मजाक, कामभोग आदि मन रत्न कल्पित करने वाली वातों का वर्णन किया गया हो उनको पढ़ना या सुनना अथवा दूसरे के दोषों की चर्चा करना या सुनना दुश्रुति नाम द्वा अनर्थदण्ड है।

आविका, एक शावक और एक श्राविका शेष रह जाते हैं। प्रथम ग्राम भाग जाने पर मुनिगंज अन्तराय मानकर निराहार रह जाते हैं। और अवधिदान के द्वारा पचमकाल का अत जानकर चारा जीव समाधिपूर्वक देह का त्याग कर देते हैं। असुर जाति के दब क्रोध म भरकर अंतिम कल्पों को समाप्त कर देते हैं। इस तरह पचमकाल पूर्ण होता है। उत्सर्पिणी के इस द्वितीय काल के प्रारम्भ में मनुष्यों को आयु बीस वर्ष और ऊचाई साढ़े तीन हाथ होती है, जो क्रम से उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। इककोस हजार वर्ष पमाण इस द्वितीय काल के एह हजार वर्ष शेष रहने पर कुलकरों की उत्पत्ति होने लगती है। कुलकर मनुष्यों को अग्नि जलाने, अन्न पकाने आदि की प्रक्रिया सिखाते हैं और अंतिम कुलकर के समय में विवाह आदि की पद्धति भी प्रचलित हो जाती है।

दु पमा-दु पमा—अवसर्पिणी के छठवे और उत्सर्पिणी के प्रथम काल का नाम दु पमा-दु पमा है। अवसर्पिणी के इस छठे काल में मनुष्यों की अधिकतम आयु बीस वर्ष और ऊचाई साढ़े तीन हाथ रहती है। मनुष्यों का नेतिक पतन होने से वे पशुवत् आचरण करने लगते हैं। मनुष्य नग्न अवस्था में बनों में धूमते हुए अत्यन्त दीन-हीन, दरिद्र और पीड़ित जीवन जीते हैं। इनकी आयु, बल, ऊचाई आदि सभी क्रमशः हीन-हीन होते जाते हैं। इस छठे काल के अत मे अर्थात् उनचास दिन कम इककोस हजार वर्ष बीत जाने पर अत्यन्त भयानक प्रलय आती है। अत्यत शीतल जल, क्षार जल, विष, धुआ, धूलि, वज्र और अग्नि—ऐसी सात प्रकार की वृष्टि सात-सात दिन तक होने से यह प्रलय का क्रम उनचास दिन तक लगतार चलता है। इस

प्रलय के समय विजयार्थी की गुफाओं में जो बहतर कुलों में उत्पन्न दीन-हीन स्त्री-पुरुष तथा कुछ तिर्यच जीव शेष बच जाते हैं उनकी ऊचाई मात्र एक हाथ और आयु पद्रह-सोलह वर्ष होती है। उत्सर्पिणी के इस प्रथम काल के प्रारम्भ में जल, दूध, अमृत, रस आदि सात प्रकार के सुखदायी मेघों की वृष्टि सात-सात दिन तक होने से उनचास दिन में सारी पृथिवी शीतल और लता गुल्म आदि से समृद्ध हो जाती है। शीतल सुगंध का अनुभव होने से मनुष्य और तिर्यच गुफाओं से बाहर निकल आते हैं और वृक्षों के मूल, फल, पत्ते आदि खाकर जीवन-यापन करने लगते हैं। आयु, वल, तेज आदि उत्तरोत्तर बढ़ते जाते हैं। इस काल का प्रमाण इक्कीस हजार वर्ष है।

दुष्पमा-मुष्पमा—अवसर्पिणी के चतुर्थकाल और उत्सर्पिणी के तृतीय काल का नाम दुष्पमा-मुष्पमा है। अवसर्पिणी के इस चतुर्थकाल में मनुष्य असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प—इन षट् कर्मों के द्वारा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। मनुष्यों की अधिकतम आयु एक पूर्व कोटि और ऊचाई पाच सौ धनुष प्रमाण होती है। इस काल में धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करने वाले तीर्थकर और अन्य महापुरुष जन्म लेते हैं। उत्सर्पिणी के इस तृतीय काल के प्रारम्भ में मनुष्यों की आयु एक सौ बीस वर्ष और ऊचाई सात हाथ होती है। मनुष्य मर्यादा, विनय, लज्जा आदि श्रेष्ठ गुणों से सपन्न होते हैं। इस काल में शेष सभी वातं अवसर्पिणी के चतुर्थकाल के समान होती है। विशेषता यह है कि मनुष्यों की आयु, वल, तेज आदि उत्तरोत्तर बढ़ते जाते हैं।

दुस्यर-नामकर्म—जिस कर्म के उदय से गधा, ऊट आदि के समान

देवमूढ़ता—वरदान पाने की आशा से रागी-द्वेषी देवी-देवताओं को सच्चे देव मानकर पूजा-अर्चना करना देवमूढ़ता है।

देवर्षि—आकाशगमन ऋष्टि से सम्पन्न साधु को देवर्षि कहते हैं। कामसेवन से रहित होने के कारण लोकान्तिक-देव भी देवर्षि कहलाते हैं।

देवावर्णवाद—‘स्वर्गलोक मे रहने वाले देवी-देवता सुरापान करते हैं और मास खाते हैं’—इस प्रकार देवगति के देवों पर मिथ्या आरोप लगाना यह देवावर्णवाद है।

देशना-लब्धि—समीचीन धर्म का उपदेश देना देशना है। देशना देनेवाले आचार्य आदि की प्राप्ति होना तथा उपदिष्ट अर्थ के ग्रहण, धारण और विचारण की सामर्थ्य प्राप्त होना देशना-लब्धि कहलाती है।

देशब्रत—श्रावक के द्वारा दिग्ब्रत मे जो आवागमन की सीमा की जाती है उसमे भी प्रतिदिन या चार माह आदि के लिए आवागमन की सीमा कम कर लेना देशब्रत कहलाता है।

देशसत्य—नियत समय के लिए जो वचन अलग-अलग प्रान्त, नगर या ग्राम आदि मे प्रचलित होता है या विभिन्न भाषाओं मे बोला जाता है उसे देशसत्य कहते हैं। जैसे—भात को चोर, कूल, भक्त आदि कहा जाता है।

द्रव्य—गुण और पर्याय के समूह को द्रव्य कहते हैं या जो उत्पाद व्यय और धांव्य से युक्त है उसे द्रव्य कहते हैं। द्रव्य छह हे—जीव, पुनर्ल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल।

द्रव्य-कर्म—जीव के शुभाशुभ भावों के निमित्त से बधने वाले सूक्ष्म पुद्धल स्कन्धों को द्रव्य-कर्म कहते हैं। ये आठ प्रकार के हैं—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय।

द्रव्यत्व—जिसके द्वारा द्रव्य का द्रव्यपना अर्थात् एक पर्याय से दूसरी पर्याय रूप परिणमन निरतर बना रहता है वह द्रव्यत्व-गुण है।

द्रव्य-निक्षेप—आगामी पर्याय की योग्यता वाले उस पदार्थ को जो उस समय उस पर्याय के अभिमुख हो, द्रव्य कहते हैं। द्रव्य का आगामी या पूर्व पर्याय की अपेक्षा कथन करना द्रव्य-निक्षेप कहलाता है। जैसे—आगे सेठ बनने वाले बालक को सेठ कहना या जो राजा दीक्षित होकर मुनि अवस्था में विद्यमान है, उन्हे अभी भी राजा कह देना।

द्रव्य-परिवर्तन—द्रव्य-परिवर्तन के दो भेद हैं—नो कर्म द्रव्य-परिवर्तन और कर्म द्रव्य-परिवर्तन। इसे पुद्गल-परिवर्तन भी कहते हैं। नो कर्मद्रव्य-परिवर्तन—किसी एक जीव ने औदारिक, वैक्रियिक या आहारक इन तीनों शरीरों और आहार आदि छह पर्याप्तियों के योग्य पुद्गलों को एक समय में ग्रहण किया फिर वे पुद्गल स्कंध द्वितीयादि समय में निर्जीण हो गए तत्पश्चात् अगृहीत परमाणुओं को अनन्त बार ग्रहण करके उस जीव ने छोड़ा, मिश्र परमाणुओं को अनन्त बार ग्रहण करके छोड़ा और बीच में गृहीत परमाणुओं को अनन्त बार ग्रहण करके छोड़ा तत्पश्चात् जब उसी जीव के सर्वप्रथम ग्रहण किए गए वे ही परमाणु उसी प्रकार से पुन नो कर्म (शरीर) के रूप में प्राप्त होते हैं तब यह सब मिलकर एक नो कर्म द्रव्य-परिवर्तन कहलाता है। **कर्म द्रव्य-परिवर्तन**—ससारी जीव निरतर कर्मवध करता

रहता है चूंकि आयुकर्म सदा नहीं वधता अत ज्ञानावरणीय आदि शेष सात कर्मों के योग्य पुद्गल स्कंधों को वह प्रति समय ग्रहण करता है और उन्हे भोगकर छोड़ देता है। इस प्रक्रिया में वह अनन्त बार अगृहीत परमाणुओं को ग्रहण करके छोड़ देता है, मिश्र परमाणुओं को अनन्त बार ग्रहण करके छोड़ता है और अनन्त बार गृहीत परमाणुओं को ग्रहण करके छोड़ता है। तत्पश्चात् जब उस जीव के द्वारा सर्वप्रथम ग्रहण किए गए वे ही परमाणु उसी प्रकार से पुन कर्म रूप में परिणत होते हैं तब यह सब मिलकर एक कर्म द्रव्य-परिवर्तन कहलाता है। तात्पर्य यह है कि पुद्गल परिवर्तन रूप ससार में अनेक बार श्रमण करता हुआ जीव सभी पुद्गलों को क्रम से भोगकर छोड़ता रहता है।

द्रव्य-पूजा—पच परमेष्ठी के सम्मुख भक्ति-भाव से गन्ध, पुष्प, धूप व अक्षत आदि श्रेष्ठ अष्ट द्रव्य समर्पित करना द्रव्य-पूजा है।

द्रव्य-लिंग—देखिए लिंग।

द्रव्य-श्रुत—भावश्रुत के आश्रय से उत्पन्न होने वाले वचनात्मक श्रुत को द्रव्य-श्रुत कहा जाता है या अक्षर रूप जिनवाणी को द्रव्य-श्रुत कहते हैं।

द्रव्य-सामायिक—चेतन-अचेतन द्रव्यों में इष्ट-अनिष्ट रूप विकल्प नहीं करना द्रव्य-सामायिक है।

द्रव्य-स्तव—शुभ लक्षणों से युक्त चोबीस तीर्थकरों के शरीर की छवि का कीर्तन करना द्रव्य-स्तव कहलाता है।

द्रव्यानुयोग—जिसमें मुख्य रूप से जीव-अजीव तत्त्व का, पुण्य-पाप और बन्ध-मोक्ष का विवेचन किया गया है वह द्रव्यानुयोग है। इस अनुयोग की कथन पद्धति का प्रयोजन यह है कि जो जीव, तत्त्व के वास्तविक स्वरूप से अपरिचित होने के कारण आपा-पर के भेद विज्ञान से वर्चित है वे तत्त्व को पहचाने और उसका अभ्यास करे, जिससे मोक्षमार्ग में रुचि बढ़े।

द्रव्यार्थिक-नय—जो पर्याय को गौण करके द्रव्य को मुख्य रूप से अनुभव करावे वह द्रव्यार्थिक नय है। यह वस्तु को जानने का एक दृष्टिकोण है जिसमें वस्तु के विशेष रूपों से युक्त सामान्य रूप को दृष्टिगत किया जाता है। जैसे—मनुष्य, देव, तिर्यक आदि विविध रूपों में रहने वाले एक जीव सामान्य को देखना या कहना कि यह सब जीव द्रव्य है।

द्रव्येन्द्रिय—जो निर्वृत्ति और उपकरण रूप है तथा वाहर दिखाई पड़ती है उसे द्रव्येन्द्रिय कहते हैं। इसमें जो इन्द्रिय के निश्चित आकार आदि की रचना है वह निर्वृत्ति कहलाती है और जो निर्वृत्ति के लिए सहायक है वह उपकरण है। जैसे—चक्षु इन्द्रिय का जो निश्चित आकार है वह निर्वृत्ति है तथा जो सफेद और काला गोलक व पलके हैं वह उपकरण है।

द्वादशाङ्क—श्रुत के बारह अङ्ग आचाराङ्क, सूत्रकृताङ्क, स्थानाङ्क, समवायाङ्क, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातुधर्मकथाङ्क, उपासकाध्ययनाङ्क, अन्तकृदशाङ्क, अनुत्तरोपपादिक दशाङ्क, प्रश्नव्याकरणाङ्क, विपाकसूत्राङ्क और दृष्टिप्रवादाङ्क ही द्वादशाङ्क हैं। द्रव्यश्रुत रूप द्वादशाङ्क की रचना गणधर करते हैं। इसे ही जिनवाणी कहते हैं।

द्वितीयोपशम-सम्यक्त्व—उपशम श्रेणी चढ़ने वाले साधु को क्षयोपशम सम्यग्दर्शन से पुन जो उपशम-सम्यक्त्व प्राप्त होता है उस द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन कहते हैं। यह सम्यग्दर्शन अनन्तानुवधी क्रोध, मान, माया और लोभ इन चारो कषायों की विसयोजना और मिथ्यात्व, सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व, इन तीन कर्म प्रकृतियों के उपशम से होता है।

द्विदल—मूग, चना, उडद आदि जिस धान्य के दो दल अर्थात् दो भाग हो जाते हैं उसे दही या छाँच के साथ मिलाने पर वह द्विदल कहलाता है। इसे अभक्ष्य माना है।

द्वीन्द्रिय-जीव—जिनके स्पर्शन व रसना—ये दो इन्द्रिया होती हैं वे द्वीन्द्रिय-जीव कहलाते हैं। जैसे—इल्ली, कृमि आदि।

द्वीप-सागर-प्रज्ञाप्ति—जिसमेद्वीप और समुद्रों का प्रमाण तथा द्वीप व समुद्र के अन्तर्भूत अन्य वस्तुओं का भी वर्णन किया गया है वह द्वीप-सागर- प्रज्ञाप्ति है।

द्वेष—अप्रीति या वेरभाव होना द्वेष है। क्रोध, मान, अरति, शोक, जुगुप्सा, भय ये सभी द्वेष के ही विविध रूप हैं।

ध

धर्म—गम्भीरधर्म, सम्प्राणान और सम्यक् चारित्र हीं धर्म है। या जो लोगों को नमार के दुखों से बचाकर मोक्ष सुख में पहुचावे, वह धर्म है। अशब्द घम्लु का स्वभाव हीं धर्म है। धर्म दो प्रकार का हे—व्यवहार धर्म और निश्चय धर्म। दान, पूजा, श्रील, जप, तप, त्याग आदि व्यवहार धर्म हैं तथा परिणामों की निर्मलता, समता या वीतरागता निःक्षय-धर्म हैं।

धर्मयक—तोर्धक के समवसरण मे स्थित पीठिका पर जो सूर्य के विवर का समान दैदीप्यमान चक्र शोभित होते हे वे धर्मचक्र कहलाते हे। ये गमतगण्ण मे चारों दिशाओं मे होते हैं। हजार आरो वाले ये धर्मचक्र देखा से रक्षित होते हैं।

धर्म-द्रव्य—जो जीव व पुद्धल के गमन मे महायक है उसे धर्म-द्रव्य कहते हैं। या द्रव्य समूच लोक मे व्याप्त है। यह अचेतन और अरूपी है। इसका यार्य जल को तरह है जो मछली को गमन करने में सहायक है।

सी अम्सी हाथ थी। शरीर स्वण कं सलान आभा वाला था। पाच लाख वर्ष तक राज्य करने के उपरात उल्कापात देखकर इन्हें वैराग्य हा गया। अपने ज्येष्ठ पुत्र को राज्य टेकर इन्होंने जिनदीक्षा ले ली। एक वर्ष तक तपस्या करके केवलज्ञान प्राप्त किया। इनके सघ में अरिष्टसेन आदि तंतालीस गणधर, चौसठ हजार मुनि, बासठ हजार आर्यिकाए, दो लाख श्रावक और चार लाख श्राविकाए थीं। इन्होंने सम्पूर्ण शिखर से मोक्ष प्राप्त किया।

धर्मानुप्रेक्षा—जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहे गए वीतराग धर्म के बिना यह जीव अनादि काल से दुख का अनुभव करते हुए ससार में श्रमण कर रहा है। धर्म को धारण करने वाले जीव को उत्तम सुख की प्राप्ति होना निश्चित है। इस प्रकार धर्म-भावना का वार-वार चिन्तन करना धर्मानुप्रेक्षा है।

धर्मानुराग—धर्म में स्थिर रहना ओर विपत्ति आने पर भी धर्म से विमुख नहीं होना धर्मानुराग है।

धर्मवर्णवाद—‘जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहा गया अहिंसा धर्म गुणकारी नहीं है, इसका पालन करने वाले जीव असुर होते हैं’—इस प्रकार धर्म की निन्दा करना धर्म-अवर्णवाद है।

धर्मोपदेश—जिससे जीवों को उत्तम सुख की प्राप्ति हो ऐसे वीतराग धर्म का उपदेश देना धर्मोपदेश नाम का स्वाध्याय है।

धात्री-दोष—जो वालक का पालन-पोषण करे वह धाय कहलाती है। यदि साधु धाय सबधी कार्यों का उपदेश देकर आहार प्राप्त करता हे तो यह धात्री दोष है।

धारणा-1 जाने हुए पदार्थ को कालान्तर में नहीं भूलना धारणा नाम का मतिज्ञान है। 2 पच-नमस्कार मत्र व जिनप्रतिमा के आलम्बन से मन को एकाग्र करना धारणा नाम का ध्यान है। ध्यान के लिए पाच प्रकार की धारणाएँ प्रसिद्ध हैं। (देखिए पिंडस्थ-ध्यान)

धूमदोष-यदि साधु निदा या ग्लानि करते हुए आहार ग्रहण करे तो यह धूम-दोष है।

ध्याता-शुभ ध्यान करने वाले साधक को ध्याता कहते हैं।

ध्यान-चित्त की एकाग्रता का नाम ध्यान है। यह चार प्रकार का है—आर्तध्यान, रोद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान। आर्तध्यान और रोद्रध्यान ससार को बढ़ाने वाले होने से अशुभ है। धर्मध्यान व शुक्लध्यान मौक्ष-प्राप्ति में सहायक होने से शुभध्यान है।

ध्येय-ध्यान के आलम्बन को ध्येय कहते हैं। ध्येय चेतन-अचेतन दोनों प्रकार के हो सकते हैं, जो जीव के शुभ-अशुभ परिणाम में निमित्त बनते हैं।

ध्रुव-अवग्रह-जो व्यार्थ ग्रहण निरतर होता है वह ध्रुव अवग्रह है। आशय यह है कि जैसा प्रथम समय में शब्द आदि का ज्ञान हुआ था, आगे भी वेसा ही होता रहता है, कम या ज्यादा नहीं होता वह ध्रुव-अवग्रह है।

ध्रौव्य-द्रव्य को स्वभाव रूप स्थिरता का नाम ध्रौव्य है।

न

नन्दा-वाचना-विविध मत-भतान्तरों का निराकरण भरते हीं
सत्य-धर्म को स्थापित करने वाली व्याख्या नन्दा-वाचना कहलाती है।

नन्दीश्वर-दीप—यह मध्यलोक का आठवा दीप है। इस दीप में धारों
टिङ्गाओं में चार अजनगिरि-पर्वत, भोलह वापिया, सानर दगिमुरा पाँ।
और चोसठ रतिकर-पर्वत हैं। यहाँ कुल वाचन जिनानय है जिनमें
रत्न और स्वर्णमय भव्य प्रतिमाएँ हैं। प्रतिवर्ष देवा हारा फान्न
आयाट और कार्तिक मास के आष्टाविंशति पर्व में यहाँ अभिषेकयुक्त
नन्दीश्वर आठि महापूजा होती है।

श्राविकाए थीं। इन्होने सम्मेट-शिखर म मान प्राप्त किया।

नय-वग्नु के अनेक धर्मों में से किसी एक धर्म को सापेक्ष रूप से कथन करने की पद्धति को नय कहते हैं। अथवा ज्ञाता और वक्ता के अभिप्राय को नय कहते हैं। वास्तव में, अनन्त धर्मात्मक होने के कारण वस्तु अत्यत जटिल है। उसे जाना जा सकता है परतु आसानी से कहा नहीं जा सकता। उसे कहने के लिए वस्तु का विश्लेषण करके एक-एक धर्म को क्रमशः निरूपित करने के सिवाय अन्य कोई उपाय नहीं है ऐसी स्थिति में वक्ता वस्तु के किसी एक धर्म को मुख्य करके और शेष धर्मों को गीण करके सापेक्ष रूप से कथन करता है और इस तरह वस्तु को पूर्णत जानना आसान हो जाता है। यही नय का कार्य है। नय के दो भेंट है—द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय अथवा निश्चय नय और व्यवहार नय। नेगम, सग्रह, व्यवहार, नजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ ओर ग्रामभूत—ये भी सात नय हैं।

नरक—जो जीवों को शीत, उष्ण आदि वेदनाओं से निरतर आकुलित करते रहते हैं वह नरक कहलाते हैं। अथवा पापी जीवों को अत्यत दूर्घ प्राप्त कराने वाले नरक हैं। अथवा जिस स्थान मे जीव रमते नहीं त अर्थात् परस्पर प्रेम-भाव को प्राप्त नहीं होते वह नरक कहलाते हैं।

कहलाती है।

नान्य-परीपह-जय-हिसा आदि दोपो से रहित निष्परिणर स्व जो बालकवत् सहज निर्विकार नग्नता है वह मौक का अनिवार्य माध्यन है। इस नग्न दिगम्बर स्व को धारण करने वाले जो साधु काम्पिन्स को जीत लेते हैं और अखण्ड ग्रन्थचर्य का पालन करते हैं वह उनमा नान्य-परीपह-जय है।

नाभ्ययोनिर्गम-आहार के लिए जाते हुए साधु को वहि नाभ से नीता मम्तक करके निकलना पड़ तो यह नाभ्ययोनिर्गम नाम सा पारान कहलाता है।

नाम-सामायिक-प्रिय-अप्रिय नाम आदि सुनकर हर्ष या विषाद नहीं करना यह नाम-सामायिक है।

नाम-स्तव-अहन्त भगवान का एक हजार आठ नामों से स्तवन करना नाम-स्तव कहलाता है।

नारद-ये कलह और युद्ध के प्रेमी होते हैं। एक स्थान की बात दूसरे स्थान तक पहुचाने में सिद्धहस्त होते हैं। जटामुकुट, कमण्डलु, यज्ञोपवीत, गंगुआ वस्त्र और वीणा आदि धारण करते हैं। बाल-ब्रह्मचारी होते हैं। धर्म कार्य में तत्पर रहते हुए भी हिसा व कलह आदि में रुचि रखने के कारण नरकगामी होते हैं। जिनेन्द्र-भक्ति के प्रभाव से शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

नाराच-सहनन-जिस कर्म के उदय से शरीर में हड्डियों की संधिया परस्पर नाराच अर्थात् कील से जुड़ी होती है वह नाराच-सहनन नामकर्म है।

नारायण-अपने पूर्वभव में जो जीव रत्नत्रय की आराधना करके विशिष्ट पुण्य का सचय करता है लेकिन लोभवश आगामी भोगों की आकाश्का रूप निदान करके स्वर्ग में उत्पन्न होता है और वहाँ से च्युत होकर मनुष्यों में तीन खण्ड राज्य के अधिपति के रूप में उत्पन्न होता है। यह तीन खण्ड राज्य का स्वामी ही नारायण कहलाता है। नारायण के चक्र, गदा, खड़ग, शक्ति, धनुष, शख और महामणि-ये सात रत्न और अपार वेश्वर होता है। एक उत्सर्पिणी या अवसर्पिणी काल में नी नारायण होते हैं। नारायण वलभद्र के छोटे भाई होते हैं। हिसां का समर्थन करने से नरक जाते हैं लेकिन भव्य होनं कं कारण शीघ्र

ही मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

निकाचित-जीव के द्वारा वाधे गए जिस कर्म का अपकर्षण, उत्कर्षण और सक्रमण होना सभव नहीं है वह निकाचित-कर्म कहलाता है। यह कर्म आवाधाकाल पूरा होने पर उदय में आकर अवश्य ही फल देता है। विशेषता यह है कि जिनविव के दर्शन से कर्मों का निकाचितपना नष्ट हो सकता है।

निक्षिप्त-दोष-यदि साधु सचित जल, पृथिवी, हरे पत्ते आदि के ऊपर रखी आहार सामग्री ग्रहण कर ले तो यह निक्षिप्त दोष है।

निक्षेप-नाम स्थापना आदि के द्वारा वस्तु में भेद करने के उपाय को निक्षेप कहते हैं। या जो अनिर्णीत वस्तु का निर्णय कराये उसे निक्षेप कहते हैं। नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव—ये चार निक्षेप हैं। लोक-व्यवहार में एक ही वस्तु के लिए नाम आदि चारों निक्षेप देखने में आते हैं, जैसे—किसी व्यक्ति का नाम सेवक है। किसी सेवक का चित्र भी सेवक कहलाता है। जो सेवाकार्य से निवृत्त है या आगे सेवा कार्य करेगा, वह भी सेवक माना जाता है। जो वर्तमान में सेवाकार्य कर रहा है वह भी सेवक है।

निगोद-जो अनन्तों जीवों को एक निवास दे उसे निगोद कहते हैं। आशय यह है कि एक ही साधारण शरीर में जहा अनन्तों जीव निवास करते हैं वह निगोद है। निगोद में स्थित जीव दो प्रकार के हैं—नित्यनिगोद और चतुर्गति निगोद।

नित्य-निगोद-जिन्होंने कभी भी त्रस-पर्याय को प्राप्त नहीं किया और जो सदाकाल से निगोद में ही है वे जीव नित्य-निगोद कहलाते हैं।

नित्य पूजा-प्रतिदिन जिनालय में गध पुष्पादि सामग्री के द्वारा भक्ति भाव से जिनेन्द्र भगवान की पूजा करना नित्य पूजा या सदार्चन कहलाता है।

निदान—‘मुझे भविष्य में इस वस्तु की प्राप्ति हो’—ऐसा सकल्प करना निदान कहलाता है। यह तीन प्रकार का है—प्रशस्त, अप्रशस्त और भोगकृत। सयम की साधना के लिए परलोक में उत्तम शरीर, दृढ़ परिणाम और योग्य सामग्री प्राप्त हो ऐसी भावना रखना प्रशस्त निदान है। अभिमानवश उत्तम कुल, वश या उत्तम पदवी की कामना करना अप्रशस्त निदान है अथवा क्रोधित होकर मरण के समय शत्रु के वध की इच्छा करना अप्रशस्त निदान है। परलोक में भोग-वित्तास की उत्तम सामग्री मिले, ऐसी आकाश्का करना भोगकृत-निदान है।

निदान-आर्तध्यान-विशेष प्रीतिवश या तीव्र कामादि वासना से प्रेरित होकर त्याग-न्तपस्था के फलस्वरूप परलोक में इन्द्रिय-सुख मिले, ऐसी आकाश्का निरन्तर करना निदान नाम का आर्तध्यान है। इसमें परलोक सबधी इन्द्रिय-सुखों की प्राप्ति के लिए सतत चिन्ता बनी रहती है। यह आर्तध्यान देशप्रती श्रावक की अवस्था तक ही सभव है। मुनिजनों को यह आर्तध्यान नहीं होता।

निदान-शल्य-देखे, सुने और अनुभव में आए हुए भोगों में निरतर चित्त को लगाए रखना निदान-शल्य है।

निद्रा-मद, खेद व परिश्रम-जन्य थकावट को दूर करने के लिए शयन या विश्राम करना निद्रा है। निद्रा कर्म के उदय में जीव अल्प-काल सोता है और उठाए जाने पर जल्दी उठ जाता है।

निद्रा-निद्रा—निद्रा की पुनरावृत्ति होना निद्रा-निद्रा है। निद्रा-निद्रा कम के उदय में जीव वृक्ष की डाल पर, विषम भूमि पर या जहा कहीं भी अत्यत गहरी नींद में सांता है।

निधत्ति—जीव के द्वारा वाधे गए जिस कर्म का उत्कर्षण या अपकर्षण तो सभव है, पर सक्रमण होना सभव नहीं है उसे निधत्ति कर्म कहत है। इतना अवश्य है कि जिनविव के दर्शन से कर्मों का निधत्तिपना नष्ट हो जाता है।

निन्दा—स्वयं अपने दोषों को प्रगट करना या उनका पश्चात्ताप करना निन्दा कहलाती है।

निवद्ध-मंगल—ग्रन्थ के प्रारम्भ में ग्रथकार के द्वारा जो स्तुतिपरक श्लोक आदि के रूप में भगवान को नमस्कार किया जाता है वह निवद्ध-मंगल कहलाता है।

निमित्त-कारण—जो कार्य के होने में सहयोगी हो या जिसके बिना कार्य न हो उसे निमित्त-कारण कहते हैं। कुछ निमित्त धर्मद्रव्य आदि के समान उदासीन होते हैं और कुछ गुरु आदि के समान प्रेरक भी होते हैं। उचित निमित्त के होने पर तदनुसार ही कार्य होता है।

निमित्त-ज्ञान—तीनों काल सबधीं शुभाशुभ का ज्ञान करने के लिये अतिरिक्त, भोग, अङ्ग, स्वर, व्यजन, लक्षण, छिन्न और स्वप्न ये आठ निमित्त होते हैं। इन आठ निमित्तों द्वारा शुभाशुभ का ज्ञान होना निमित्त-ज्ञान कहलाता है।

निमित्त-दोष—यदि साधु निमित्त-ज्ञान के द्वारा शुभाशुभ फल बताकर आहार प्राप्त करे तो यह निमित्त नामक दोष है।

नियतिवाद—जो जब, जिसके द्वारा, जिस प्रकार से, जिसका नियम से होना होता है वह तब ही, तिसके द्वारा, तिस प्रकार से होता है—ऐसा मानना नियतिवाद नाम का एकान्त मिथ्यात्व है।

नियम—भोग-उपभोग की सामग्री का थोड़े समय के लिए त्याग करना नियम कहलाता है।

निर्ग्रथ—
1 धन-धान्यादि परिग्रह को ग्रन्थ कहते हैं अत जो समस्त बाह्य और अंतरग परिग्रह से रहित है वे निर्ग्रथ साधु कहलाते हैं।
2 अन्तर्मुहूर्त के उपरान्त जिन्हे केवलज्ञान प्रगट होने वाला है वे निर्ग्रथ कहलाते हैं।

निर्जरा—जिस प्रकार आम आदि फल पककर वृक्ष से पृथक् हो जाते हैं, उसी प्रकार आत्मा को भला-बुरा फल देकर कर्मों का झड़ जाना निर्जरा है। यह दो प्रकार की है—सविपाक निर्जरा और अविपाक निर्जरा।

निर्जरानुप्रेक्षा—जीव के पूर्वबद्ध कर्म अपना फल देकर झड़ जाते हैं—ऐसी सविपाक निर्जरा सभी जीवों के निरतर होती रहती है। विशेष तप के द्वारा की गयी अविपाक निर्जरा केवल सम्यग्दृष्टि व्रती श्रावक और मुनियों के होती है जो जीव को ससार के दुखों से मुक्त करती है। इस प्रकार निर्जरा के गुणदोषों का चिन्तवन करना निर्जरानुप्रेक्षा कहलाती है।

निर्देश—विवक्षित वस्तु के स्वरूप का कथन करना निर्देश कहलाता है।

निर्माण नामकर्म—जिस कर्म के उदय से शरीर के अङ्ग और उपाङ्गों

की रचना होती है उसे निर्माण-नामकर्म कहते हैं। चक्षु आदि अवयवों के स्थान और प्रथाण आदि का निर्धारण भी निर्माण नामकर्म के उदय से होता है।

निर्माल्य—मत्रांच्चार या अभिग्रायपूर्वक सच्चे देव शास्त्र गुरु के सम्मुख चढ़ाई गई वस्तु निर्माल्य कहलाती है। निर्माल्य दो प्रकार का होता है—देव-द्रव्य और देव-धन। जो नैवेद्य, जल, चदन आदि द्रव्य भगवान के सम्मुख अर्पित को जाती है वह देव-द्रव्य रूप निर्माल्य है। यदि चढ़ाने वाला इस सामग्री को स्वयं प्रसाद रूप में ग्रहण करे या अन्य किसी को प्रसाद की तरह दे तो उसके अन्तराय कर्म का बध होता है। मंदिर के जीर्णोद्धार, जिनविव-प्रतिष्ठा, वेदी-प्रतिष्ठा, जिन-पूजन और रथांत्सव आदि धर्म कार्य के लिए जो दान-राशि प्रदान की जाती है वह देवधन रूप निर्माल्य है। जो लोभवश निर्माल्य ग्रहण करता है वह नरकगामी होता है।

निर्यापिक—सल्लेखना धारण कराने वाले आचार्य को निर्यापिक या निर्यापिकाचार्य कहते हैं। योग्य-अयोग्य आहार को जानने वाले, प्रायश्चित-ग्रथ के रहस्य को जानने वाले, आगम के ज्ञाता और स्व-पर के उपकार में तत्पर आचार्य ही निर्यापिक होने के योग्य हैं। एक क्षपक की सल्लेखना के लिए अधिकतम अड़तालीस निर्यापिक होते हैं और कम से कम दो निर्यापिक भी संल्लेखना के कार्य को सभाल सकते हैं। जिनागम में एक निर्यापिक का किसी भी काल में उल्लेख नहीं है। यदि एक ही निर्यापिक होगा तो सल्लेखना का महान कार्य निर्विघ्न सपन्न नहीं हो सकता।

निर्वाण—आत्मा की परम विशुद्ध अवस्था का नाम निर्वाण है अथवा-

निर्वाण का अर्थ विनाश है, अत सर्व कर्मों का विनाश होना ही निर्वाण है। या जहा पीड़ा, बाधा, जन्म, मरण आदि नहीं है वही निर्वाण है।

निर्वाण-कल्याणक-तीर्थकरों के निर्वाण के अवसर पर होने वाला उत्सव निर्वाण-कल्याणक कहलाता है। आयु पूर्ण होने के अंतिम समय में भगवान् योग-निरोध करके ध्यान के द्वारा श्रेष्ठ सर्व कर्मों का क्षय कर देते हैं और आत्मा की परम विशुद्ध अवस्था में स्थित हो जाते हैं। देवगण भगवान् के निर्वाण-कल्याणक की पूजा करते हैं। भगवान् का शरीर कपूर की भाँति उड़ जाता है। इन्द्र उस स्थान पर भगवान् के लक्षणों से युक्त सिद्धशिला का निर्माण करता है।

निर्विकृति-जिह्वा एव मन में विकार उत्पन्न करने वाले गोरस आदि को विकृति कहा जाता है अथवा जिस आहार को परस्पर मिलाने से विशेष स्वाद उत्पन्न होता है उसे विकृति कहते हैं। विकृति से रहित छाछ आदि को निर्विकृति कहते हैं।

निर्विचिकित्सा—जो रलत्रय से पवित्र है ऐसे मुनिजनों के मलिन शरीर को देखकर घृणा नहीं करना और उनके गुणों के प्रति प्रीति रखना यह सम्यग्दर्शन का निर्विचिकित्सा अङ्ग है।

निर्वृत्तिअपर्याप्त—पर्याप्ति नामकर्म के उदय से युक्त जीव के जब तक शरीर पर्याप्ति पूर्ण नहीं होती उतने काल तक उसे निर्वृत्ति-अपर्याप्त कहते हैं।

निर्वेजनी-कथा—ससार, शरीर और भोगों से वैराग्य उत्पन्न कराने वाली कथा को निर्वेजनी कथा कहते हैं।

निश्चय-काल—वर्तना जिसका लक्षण है वह निश्चय-काल है। निश्चय काल ही वस्तु के परिणमन में निमित्त कारण है। इसी के आधार पर समय, निमेष, दिन, रात, मास, वर्ष आदि रूप व्यवहार-काल जाना जाता है।

निश्चय-चारित्र—रागादि विकल्पों से रहित होकर आत्मस्वरूप में लीन होना निश्चय-चारित्र है। शुक्लध्यान, वीतराग-चारित्र, शुद्धोपयोग, उपेक्षासयम, सर्वपरित्याग, उत्सर्ग या निश्चय-चारित्र ये एकार्थवाची हैं।

निश्चय-नय—जो अभेद रूप से वस्तु का निश्चय करता है वह निश्चय नय है। निश्चय नय वस्तु को जानने का एक ऐसा दृष्टिकोण है जिसमें कर्ता, कर्म आदि भाव एक-दूसरे से भिन्न नहीं होते। यह दो प्रकार का है—शुद्ध निश्चय नय और अशुद्ध निश्चय नय। निरुपाधि गुण और गुणी में अभेद दर्शने वाला शुद्ध निश्चय नय है। जैसे केवलज्ञानादि ही जीव है अर्थात् केवलज्ञानादि जीव का स्वभावभूत लक्षण है। इस नय की दृष्टि से जीव निज शुद्ध भावों का कर्ता और वीतराग परम आनंद का भोक्ता है। सौपाधिक गुण और गुणी में अभेद दर्शने वाला अशुद्ध निश्चय-नय है। जैसे—मतिज्ञान आदि ही जीव है। इस नय की दृष्टि से जीव, राग-द्वेष-मोह रूप भावकर्मों का कर्ता है और उस भावकर्म के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले हर्ष विपाद आदि रूप सुख-दुख का भोक्ता है।

निश्चय-मोक्षमार्ग—जो निज शुद्ध आत्म-तत्त्व के सम्बन्ध श्रद्धान, ज्ञान और आचरण रूप हे वह निश्चय-मोक्षमार्ग है।

निश्चय-सम्यगदर्शन-रागादि से भिन्न निज शुद्धात्मा ही उपादेय हे—ऐसी रुचि या श्रद्धान होना निश्चय-सम्यगदर्शन है। यह निश्चय-चारित्र का अविनाभावी है अर्थात् निश्चय-चारित्र के बिना निश्चय सम्यगदर्शन नहीं होता।

निश्चय-सम्यगज्ञान-समस्त रागादि विकल्पो से रहित शुद्धात्मस्वरूप का वेदन या अनुभव करना निश्चय-सम्यगज्ञान है या स्वसंवेदन ज्ञान को निश्चय-सम्यगज्ञान कहते हैं।

निषद्या-परीषह-जय-शमशान, उद्यान, गुफा आदि मेरहते हुए जो साधु वीरासन आदि आसन विशेष मेरस्थित होकर आत्म ध्यान मेरलीन रहते हैं और उपसर्ग आदि आने पर भी आसन से विचलित नहीं होते, उनके यह निषद्या-परीषह-जय हैं।

निषिद्धिका-वहुत प्रकार के प्रायश्चित्त आदि का वर्णन करने वाले शास्त्र को निषिद्धिका कहते हैं।

निषीधिका-अहंत आदि के निर्वाण क्षेत्र तथा मुनिराज आदि के समाधिस्थल को निषीधिका कहते हैं।

निष्ठीवन-आहार करते समय साधु के मुख मे कफ आदि आ जाने पर निष्ठीवन नाम का अत्तराय होता है।

निसर्ग-क्रिया-पापादान आदि रूप प्रवृत्ति के लिए सम्पत्ति टैना निसर्ग-क्रिया है।

निसर्गज-सम्यगदर्शन-जो परोपदेश के बिना सहज उत्पन्न होता है उसे निसर्गज-सम्यगदर्शन कहते हैं।

निसहीं-प्रवेश की सूचना के लिए प्रयुक्त शब्द। साधु को जब जिनमंदिर मठ या गुफा आदि मे प्रवेश करना हो तो वहाँ रहने वाले भूत, यक्ष, नाग आदि से 'निसहीं' इस शब्द को बोलकर प्रवेश करना चाहिए। इसी तरह वहा से निकलना हो तो 'असहीं' इस शब्द को बोलकर निकलना चाहिए।

नि काक्षित-इन्द्रिय सुखों की आकाक्षा छोड़कर सम्यग्दृष्टि जीव मोक्ष की प्राप्ति के लिए तप आदि अनुष्ठान करता है यह उसका नि काक्षित गुण है।

नि-शक्ति-अर्हन्त भगवान वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी हें इसलिए उनके द्वारा कहे गए मोक्ष और मोक्षमार्ग के स्वरूप मे सम्यग्दृष्टि जीव सशय नहीं करता यह उसका नि शक्ति गुण है।

नि सरणात्मक-तैजस-जीवों के अनुग्रह या विनाश करने मे समर्थ जो तैजस-शरीर साधु के स्थूल शरीर से बाहर निकलता है उसे नि सरणात्मक तैजस शरीर कहते हैं। यह दो प्रकार का है प्रशस्त-नि सरणात्मक-तैजस और अप्रशस्त-नि सरणात्मक-तैजस।

निःसृत-वस्तु के पूर्णत प्रगट होने पर ही उसका ज्ञान होना नि सृत-अवग्रह है। जैसे जलमग्न हाथी के पूर्णत बाहर आने पर ही उसका ज्ञान हो पाना।

नीच-गोत्र-जिस कर्म के उदय से जीव का जन्म लोकनिन्दित अर्थात् हिसक, दुराचारी, दुख से पीड़ित, दरिद्र कुल मे हो उसे नीच-गोत्र कहते हैं।

नील-लेश्या—विषयो मे आसक्त, मतिहीन, मानी, विवेकशून्य, मन्द, आलसी, कायर, प्रचुर माया प्रपच मे सलग्न, निद्रालु, लोभ से अध, धन-सपति आदि सुख का इच्छुक और आहारादि सज्जाओ मे आसक्त जीव नील लेश्या वाला है। ये सब नील लेश्या के लक्षण हैं।

नेमिनाथ—बाइसवे तीर्थकर। ये यादववश के राजा समुद्रविजय के पुत्र थे। रानी शिवादेवी इनकी मा थीं। इनकी आयु एक हजार वर्ष थी। शरीर की ऊचाई दस धनुष और आभा नीलमणि के समान थी। अपने विवाह की तैयारी मे म्लेच्छ राजाओ के भोजन के लिए हरिणो का समूह बधन मे बधा देखकर वे विवाह किए बिना ही विरक्त हो गए और जिनदीक्षा ले ली। छप्पन दिन तक तपस्या करके केवलज्ञान प्राप्त किया। इनके समवसरण मे वरदत्त आदि ग्यारह गणधर, अठारह हजार मुनि, चालीस हजार आर्यिकाए, एक लाख श्रावक व तीन लाख श्राविकाए थीं। इन्होने गिरिनार (उर्जयन्त) पर्वत से मोक्ष प्राप्त किया। इनका दूसरा नाम अरिष्टनेमी भी था। श्रीकृष्ण इनके चर्चेरे भाई थे।

नैगमनय—निगम का अर्थ सकल्प है। अत अनिष्टन्न अर्थ मे सकल्प मात्र को ग्रहण करके कथन करने वाला नैगमनय है। आशय यह है कि जो अभी उत्पन्न नहीं हुआ है भविष्य मे उत्पन्न होने वाला है ऐसे पदार्थ मे जो सकल्प मात्र को ग्रहण करता है उसे नैगमनय कहते है। जैसे ईधन, जल आदि लाते हुए किसी व्यक्ति से कोई पूछता है कि आप क्या कर रहे है, तो वह कहता है कि भात पका रहा हू। उस समय भात पका नहीं है केवल भात पकाने का सकल्प किया गया है। इसलिए उसका यह कहना कि ‘भात पका रहा हू’ लोक-व्यवहार मे सत्य माना जाता है। इसी प्रकार जितना भी

लोक-व्यवहार हे वह सब नैगमनय का विषय हे ।

नेप्ठिक-श्रावक—जो श्रद्धापूर्वक व्रत, सापायिक आदि ग्यारह प्रतिमाओं में से एक-दो या सभी प्रतिमाएं ग्रहण करता हे वह नेप्ठिक-श्रावक कहलाता हे ।

नो-कर्म—कर्म के उदय से प्राप्त होने वाला औदारिक आदि शरीर जो जीव के सुख-दुख में निमित्त बनता हे वह नो-कर्म कहलाता हे ।

नो-कर्माहार—शरीर की स्थिति में निमित्तभूत और पुण्य रूप जो असाधारण अनन्त परमाणु प्रतिक्षण अर्हन्त भगवान के शरीर से सबध को प्राप्त होते हे उसे नो-कर्माहार कहते हैं । अर्हन्त भगवान के एकमात्र नो-कर्माहार ही होता हे ।

नो-कषाय—ईपत् या अल्प कषाय का नो-कषाय कहते हे । जिस कर्म के उदय से जीव हास्य आदि का वेदन करता हे वह नो-कषाय-वेदनीय कर्म हे । इसके नी भेद हे—हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुसकवेद ।

न्यग्रोधपरिमडल-सस्थान—बड के पेड को न्यग्रोध कहते हे । जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर बड के पेड के समान नाभि के ऊपर मोटा और नीचे पतला होता हे उसे न्यग्रोधपरिमडल-सस्थान कहते हे ।

प

पञ्च-परमेष्ठी—जो परम-पद मे स्थित है वे परमेष्ठी कहलाते हैं। अहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु—ये पञ्च परमेष्ठी हैं।

पञ्चम-काल—देखिए दुष्प्रया।

पञ्चमेरु—देखिए सुमेरु।

पञ्चाङ्ग-नमस्कार—जो शरीर के पांच अङ्गो अर्थात् दोनो हाथ, दोनो घुटने और सिर को भूमि से लगाकर नमस्कार किया जाता है उसे पञ्चाङ्ग-नमस्कार कहते हैं।

पञ्चाचार—अपनी शक्ति के अनुसार सम्यग्दर्शन आदि की निर्मलता के लिए जो प्रयत्न किया जाता है उसे आचार कहते हैं। दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार ओर वीर्याचार—यही पञ्चाचार है।

पञ्चेन्द्रिय—जिनके स्पर्शन, रसना, प्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाचो इन्द्रिय होती हैं वे पञ्चेन्द्रिय जीव कहलाते हैं। देव, नारकी, मनुष्य तथा जलचर, थलचर, नभचर आदि कुछ तिर्यक जीव पञ्चेन्द्रिय होते हैं।

पण्डित-पण्डित-मरण—केवली भगवान के निर्वाण को पण्डित-पण्डित-मरण कहते हैं।

पण्डित-मरण—महाव्रती साधु का सल्लेखनापूर्वक होने वाला मरण, पण्डित-मरण कहलाता है। यह तीन प्रकार का है—भक्त-प्रत्याख्यान, इंगिनोमरण और प्रायोपगमन।

पतन—आहार लेते समय यदि साधु मूर्छा आदि आने से भूमि पर गिर पड़ते हैं तो यह पतन नाम का अतराय है।

पदस्थ-ध्यान—एक अक्षर से प्रारम्भ करके अनेक प्रकार के पचपरमेष्ठी वाचक पवित्र मत्रपदों का आलम्बन लेकर जो ध्यान किया जाता है उसे पदस्थ-ध्यान कहते हैं जैसे—एकाक्षरी मत्र—ॐ, दो अक्षर वाला—अर्हं या सिद्धं, चार अक्षर वाला—अरहत, पचाक्षरी मत्र—ण्मो सिद्धाण, नम सिद्धेभ्य आदि।

पदानुसारी ऋद्धि—जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु अपने गुरु के उपदेश से एक बीज पद को सुनकर समस्त ग्रन्थ को जानने में समर्थ होते हैं उसे पदानुसारी ऋद्धि कहते हैं।

पदार्थ—जो जाना जाये या निश्चय किया जाए उसे अर्थ या पदार्थ कहते हैं। मोक्षमार्ग में जानने योग्य जीव, अजीव, आसव, बध, सवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप—ये नौ पदार्थ हैं।

पदप्रभ—छठवे तीर्थकर। इनका जन्म इक्ष्वाकुवश के राजा धरण और रानी सुसीमा के यहा हुआ। इनकी आयु तीस लाख वर्ष पूर्व थी और शरीर दो सो पचास धनुष ऊचा था। सोलह पूर्वांग कम एक लाख पूर्व आयु शेष रहने पर इन्होने सप्तार से विरक्त होकर जिनदीक्षा ले ली। छह मास की कठोर तपस्या के फलस्वरूप इन्हे केवलज्ञान हुआ। इनके सध मे एक सौ दस गणधर, तीन लाख तीस हजार मुनि, चार लाख बीस हजार आर्यिकाए, तीन लाख श्रावक और पाच लाख श्राविकाए थीं। इन्होने सम्प्रदेशिखर से निवारण प्राप्त किया।

पद्मलेश्या—जो त्यागी हो, भद्र हो, सच्चा हो, उत्तम कार्य करने वाला

हो, क्षमावान् हो, साधुओं की पूजा-अर्चना और सेवा में तत्सर हो वह जीव पद्मलेश्या वाला है। ये सब पद्मलेश्या के लक्षण हैं।

परघात-नामकर्म—जिस कर्म के उदय से शरीर में दूसरे जीवों का घात करने में निमित्त-भूत पुद्गल का सचय होता है उसे परघात-नामकर्म कहते हैं। जेसे सर्प की दाढ़ों में विष, बिचू का डक, सिंह, चीता आदि में तीक्ष्ण नख व दात; धतूरा आदि विषेते वृक्ष।

परमर्षि—विश्वदृष्टा अर्हन्त भगवान् परमर्षि कहलाते हैं।

परमाणु—पुद्गल द्रव्य के अविभागी अश को परमाणु कहते हैं। परमाणु एक प्रदेशी होता है। सभी परमाणुओं में स्पर्श, रस, गध व वर्ण आदि गुण पाए जाते हैं। परमाणु की उत्पत्ति स्कन्ध से होती है।

परमात्मा—सर्व दोषों से रहित शुद्ध-आत्मा को परमात्मा कहते हैं। परमात्मा के दो भेद हैं—सकल-परमात्मा अर्थात् अर्हन्त भगवान् और निकल-परमात्मा अर्थात् सिद्ध भगवान्।

परमार्थ—1 परम का अर्थ यहा मोक्ष है अत मोक्ष ही जिसका प्रयोजन हे वह परमार्थ हे। 2 जिसमे आत्म-हित और लोक-हित दोनों निहित हे वह परमार्थ कहलाता है।

परमावगाढ़-सम्पदर्शन—केवलज्ञान के द्वारा प्रकाशित जीवादि पदार्थ-विषयक ज्ञान से जिनकी आत्मा विशुद्ध है वे परमावगाढ़ रुचि सम्पदृष्टि हे। इनका सम्पदर्शन ही परमावगाढ़-दर्शन है।

परलोक-भय—‘परभव मे न मालूम मेरा क्या होगा’—ऐसा भय होना परलोक-भय हे।

परसमय—परसमय का अर्थ मिथ्यादृष्टि या वहिरात्मा हे। जो जीव कर्मोदय जनित मनुष्य आदि रूप पर्यायो मे लीन हैं उन्हे परसमय कहा गया है। अथवा जो जीव मिथ्यात्व कर्म के उदय से पर पदार्थो को निज रूप मानता हे वह परसमय हे।

परावर्त-दोष—अपने साधारण चावल आदि दूसरे को देकर बदले मे दूसरे से बढ़िया चावल आदि लेकर साधु को आहार देना यह परावर्त नामक दोष है।

परिकर्म—जिसमे गणित विषयक करण-सूत्र उपलब्ध होते हैं वह परिकर्म कहलाता हे। परिकर्म के पाच शेद हैं—चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, द्वीप-सागर-प्रज्ञप्ति और व्याख्या-प्रज्ञप्ति।

परिग्रह—‘यह मेरा हे, मै इसका स्वामी हू’, इस प्रकार का ममत्व भाव ही परिग्रह हे। यह दो प्रकार का हे—अतरग परिग्रह तथा वाह्य परिग्रह। रागादि रूप अतरग परिग्रह चौदह प्रकार का है—मिथ्यात्व, चार कषाए और नो नो-कषाय। वाह्य वस्तुओ के ग्रहण व सग्रह रूप वाह्य परिग्रह दस प्रकार का है—क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पद, यान, कुप्य (वस्त्र), भाड (वर्तन) और शश्यासन।

परिग्रह-त्याग-प्रतिमा—आरभ-त्याग नामक आठवीं प्रतिमा धारण करने के उपरात देनिक उपयोग मे आने वाली वस्तुओ और पूजा के उपकरणो को छोड़कर शेष समस्त परिग्रह का जीवन पर्यन्त के लिए त्याग कर देना, यह श्रावक की नौवी परिग्रह-त्याग-प्रतिमा कहलाती है।

परिग्रह-परिमाण-ग्रन्त—धन-धान्य आदि परिग्रह का परिमाण करके

आदि पर्याप्तियों की पूर्णता होती है उसे पर्याप्त-नामकर्म कहते हैं।

पर्याय-द्रव्य की अवस्था विशेष को पर्याय कहते हैं। पर्याय एक के बाद दूसरी इस प्रकार क्रमशः होती है। अतः पर्याय को क्रमभावी या क्रमवर्ती कहा जाता है। पर्याय दो प्रकार की होती है—अर्थ-पर्याय और व्यजन-पर्याय। ये स्वभाव और विभाव रूप होती हैं।

पर्यायार्थिक-नय—जो द्रव्य को गौण करके मुख्य रूप से पर्याय को अनुभव करावे वह पर्यायार्थिक-नय है। जैसे—‘कुण्डल लाओ’—यह कहने पर व्यक्ति कडा आदि नहीं लाता क्योंकि कुण्डल रूप पर्याय ही उसे इष्ट है। सारा लोक-व्यवहार इसी नय की दृष्टि से चलता है।

पर्व-धर्म-सचय की कारणभूत अष्टमी आदि विशेष तिथियों को पर्व कहते हैं।

पश्चात्तुति—यदि साधु आहार ग्रहण करने के बाद दाता की प्रशसा करता है तो यह पश्चात्तुति नामक दोष है।

पाक्षिक-श्रावक—मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ भाव की वृद्धि करना तथा हिसा का त्याग करना यही जैनों का पक्ष है। इसलिए जो जिनेन्द्र भगवान के प्रति श्रद्धा रखते हुए हिसा आदि पाच पापों का त्याग करने की प्रतिज्ञा लेता है उसे पाक्षिक-श्रावक कहते हैं।

पाणिजन्तुवध—आहार ग्रहण करते समय यदि साधु की अजुलि में चींटी आदि जीव मर जाता है तो यह पाणिजन्तुवध नाम का अतराय है।

पाणिपिण्ड-पतन—आहार करते समय यदि साधु की अजलि से ग्रास आदि गिर जाता है तो यह पाणिपिण्ड पतन नाम का अतराय है।

परीषह-जय-भूख-प्यास आदि वेदना के होने पर कर्मों की निर्जरा के लिए उसे समतापूर्वक सहन कर लेना परीषह-जय कहलाता है। क्षुधा, तृष्णा, शीत, उष्ण, दशमशक, नाग्न्य, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शस्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, त्रुण-स्पर्श, मल, सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान, अदर्शन—ऐसे बाईस परीषह होते हैं।

परोक्ष-ज्ञान—जो इन्द्रिय, मन एव प्रकाश आदि की सहायता से होता है उसे परोक्ष-ज्ञान कहा जाता है। वास्तव में यह इन्द्रिय-ज्ञान है। लोक-व्यवहार में यह प्रत्यक्ष की भाँति होने से साव्यवहारिक-प्रत्यक्ष भी कहलाता है। मति व श्रुत—ये दोनों परोक्ष-ज्ञान हैं।

पर्याप्तक—जिस प्रकार गृह वस्त्रादि अचेतन पदार्थ पूर्ण और अपूर्ण दोनों प्रकार के होते हैं उसी प्रकार जीव भी पूर्ण व अपूर्ण दोनों प्रकार के होते हैं। जो जीव अपने योग्य पर्याप्तिया पूर्ण कर लेते हैं वे पर्याप्तक कहलाते हैं जो पर्याप्तिया पूर्ण नहीं कर पाते वे अपर्याप्तक कहलाते हैं।

पर्याप्ति—आहार, शरीर आदि की निष्पत्ति को पर्याप्ति कहते हैं। जन्म स्थान में प्रवेश करते ही जीव वहा अपने शरीर के योग्य कुछ पुद्गल परमाणुओं स्वरूप आहार ग्रहण करता है फिर अपने योग्य शरीर, इन्द्रिय, श्वास, भाषा और मन का निर्माण करता है। यही छह पर्याप्तिया होती है। जीव अपने योग्य पर्याप्तियों का प्रारम्भ एक साथ करता है लेकिन पूर्णता क्रमशः होती है। सभी पर्याप्ति पूर्ण होने में एक अन्तर्मुहूर्त लगता है।

पर्याप्ति-नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीवों के आहार, शरीर, इन्द्रिय

आदि पर्याप्तियों की पूर्णता होती है उसे पर्याप्त-नामकर्म कहते हैं।

पर्याय-द्रव्य की अवस्था विशेष को पर्याय कहते हैं। पर्याय एक वाद दूसरी इस प्रकार क्रमशः होती है। अतः पर्याय को क्रमबारी या क्रमवर्ती कहा जाता है। पर्याय दो प्रकार की होती है—अर्थ-पर्याय और व्यजन-पर्याय। ये स्वभाव और विभाव रूप होती हैं।

पर्यायार्थिक-नय—जो द्रव्य को गौण करके मुख्य रूप से पर्याय को अनुभव करावे वह पर्यायार्थिक-नय है। जैसे—‘कुण्डल लाओ’—यह कहने पर व्यक्ति कड़ा आदि नहीं लाता व्योंगि कुण्डल रूप पर्याय ही उसे इष्ट है। सारा लोक-व्यवहार इसी नय की दृष्टि से चलता है।

पर्व-धर्म-सचय की कारणभूत अष्टमी आदि विशेष तिथियों को पर्व कहते हैं।

पश्चात्सुति—यदि साधु आहार ग्रहण करने के बाद दाता को प्रशस्ता करता है तो यह पश्चात्सुति नामक दोष है।

पाकिक-श्रावक—मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ भाव की वृद्धि करना तथा हिसा का त्याग करना यही जैनों का पक्ष है। इसलिए जो जिनेन्द्र धरवान के प्रति श्रद्धा रखते हुए हिसा आदि पाच पापों का त्याग करने की प्रतिज्ञा लेता है उसे पाकिक-श्रावक कहते हैं।

पाणिजन्तुवध—आहार ग्रहण करते समय यदि साधु की अंजलि में चींटी आदि जीव मर जाता है तो यह पाणिजन्तुवध नाम का अतराय है।

पाणिपिण्ड-पतन—आहार करते समय यदि साधु की अंजलि से ग्रास आदि गिर जाता है तो यह पाणिपिण्ड पतन नाम का अतराय है।

पापानुवधी-पुण्य-पुण्य के उदय से प्राप्त वृद्धि, कोशल, निरोग शरीर आदि क्षमताओं को पापार्जन में लगा देना यह पापानुवधी-पुण्य का उपभोग है।

पापोपदेश-विना प्रयोजन के दूसरों को हिसाजन्य खेती, ब्यापार आदि पाप कार्य करने का उपदेश देना पापोपदेश नाम का अनर्थदड है।

पारिग्राहिकी-क्रिया-परिग्रह के अर्जन और सरक्षण के लिए जो क्रिया की जाती है वह पारिग्राहिकी-क्रिया है।

पारिणामिक-भाव-परिणाम अर्थात् स्वभाव से जो होते हैं वे पारिणामिक भाव हैं। आशय यह है कि कर्म के उदय, क्षय, उपशम और क्षयोपशम की अपेक्षा न रखते हुए जो जीव के स्वभावभूत भाव हैं वे पारिणामिक-भाव कहलाते हैं। ये तीन प्रकार के हैं—जीवत्व, भव्यत्व आर अभव्यत्व।

पारितापिकी क्रिया-जो दुख के बढ़ाने में कारण है वह पारितापिकी-क्रिया है।

पारिंगी-धारणा-पिडस्थ ध्यान करने वाला योगी सवपथम अत्यन्त शात् आर सर्फंद क्षांर समुद्र का ध्यान करं फिर उसक मध्य में सुदर र्गण रमल का चिन्तयन करं तत्पश्चात् उस कमल के मध्य स्थित र्गणका में श्येत रग के सिहासन का चिन्तन करे। अत मे उस मिहामन पर मर कर्गो ना क्षय करने मे समर्थ निज आत्मा वा चित्तन कर द्य पध्म पारिंगी-धारणा है।

पाश्वनाथ-तेंडसंव तीर्थकर। उग्रवशी गजा विज्वमेन आग रानी द्राही (चामादेवी) के यहा इनका जन्म हुआ। इनकी आयु सीं वर्ष थी। नो हाथ ऊचा इनका प्ररीर हरे रंग की आभा बाला था। सोलह वर्ष की अवस्था में ये अपन नाना महापाल के यहा गए। वहा पचामितप करने के लिए लकड़ी जलाने वाल तापम को राका आग बताया कि इसम नागयुगल ह। तब क्रोधवश उसन लकड़ी काट दी। उसम से निकले मरणामन्न नाग के जोड़े को इन्हान धर्मोपदेश दिया जिससे वह मपयुगल भरकर धरणेन्द्र आर पद्मावती नाम का देव-युगल हुआ। तीस वर्ष की कुमार अवस्था में इन्होंने विरक्त होकर जिनदीक्षा ले ली। तपस्या काल म कमठ के जीव शम्भर दव ने इन पर उपसर्ग किया। धरणेन्द्र-पद्मावती ने आकर उपसग निवारण किया। उपसर्ग निवारण के साथ ही इन्ह केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। इनके मध्य में स्वयम् आदि दस गणधर, सालह हजार मुनि, छत्तीस हजार आर्यिकाए, एक लाख श्रावक और तीन लाख श्राविकाए थी। इन्होंने सम्पदशिखर से निवाण पाप्त किया।

पाश्वस्थ-जो सयम का निर्दोष पालन नहीं करते, सदा एक ही वसतिका में रहते हे, दोषयुक्त आहार लेते हे, उपकरणों के द्वारा जीविका चलाते हे, दर्शन, ज्ञान, चास्त्र और तप की विनय नहीं करते और सयमी गुणवान साधुओं को दापी ठहराते हे ऐसे साधु पाश्वस्थ कहलाते हे। ये वदनीय नहीं हे।

पिण्डस्थ-ध्यान-निजात्मा का चिन्तवन करना पिण्डस्थ ध्यान हे। पिण्डस्थ ध्यान करने वाला योगी अनेक प्रकार की धारणाओं के द्वारा मन को एकाग्र करने का प्रयत्न करता हे। इसमे पाव धारणाए क्रम

से होती हे—पार्थिवी, आग्नेयी, मारुती, वारुणी और तत्त्वरूपवती।

पिच्छिका—यह दिगम्बर मुनि की पहचान का वाद्य चिह्न है। इसे धारण करने से मुनिजन प्राचीन मुनियों के प्रतिनिधि स्वरूप हे, ऐसा निश्चय हो जाता है। यह मयूर के द्वारा स्वत छोड़े गये पखों से बनायी जाती है। यह धूल व पसीने से मेली नहीं होती, कोमल, मुदु और हल्की होती है। मुनिराज इसके द्वारा जीव दया का पालन करते हैं। इसलिए यह सयम का उपकरण भी है।

पिपासा-परीष्ठह-जय—जो साधु ग्रीष्म-ऋतु के आतप या पित्त ज्वर आदि से उत्पन्न होने वाली तीव्र प्यास को समता भाव से सहन करते हैं और उसके प्रतिकार का उपाय नहीं करते, उनके यह पिपासा-परीष्ठह-जय कहलाता है।

पिहित—जो आहार अप्रासुक वस्तु से ढका है उसे निकालकर साधु को देना पिहित नाम का दाष्प है।

पुण्डरीक—जिसमे भवनवासी आदि चार प्रकार के देवों में उत्पत्ति के कारणभूत दान, पूजा आदि अनुष्ठानों का वर्णन किया गया है वह पुण्डरीक नाम का अङ्गवाद्य है।

पुण्य—जो आत्मा को पवित्र करता है या जिससे आत्मा पवित्र होती है उसे पुण्य कहते हैं। अथवा जीव के दया, दान, पूजा आदि रूप शुभ परिणाम को पुण्य कहते हैं।

पुण्यानुवधी-पाप—पाप के उदय से मिले अपग या रुग्ण शरीर तथा भद बुद्धि आदि होने पर भी पुण्य-कार्य में लगे रहना पुण्यानुवधी-पाप

मा उपभाग है।

पुण्यानुवर्धी पुण्य-पुण्य के उदय में पाप वृद्धि, काशल, निरंग शरीर आदि अपताओं का पुण्याज्ञन में लगा रहा यह पुण्यानुवर्धी-पुण्य का उपभाग है।

पुनः—जो पिता के पवित्र आचरण का अनुसरण करके अपने आपको और अपने बच्चे मा पवित्र करे उसे पुत्र कहत है।

पुद्गल—जो पूरण आर गलन स्वभाव वाला है वह पुद्गल है। अथवा जिसमें स्प, ग्म, गध व स्फर्ष य चारा गुण पाए जाते हैं उसे पुद्गल कहत है। पुद्गल के दो भद्र हैं—स्कवर व परमाणु।

पुद्गल-विपाकी—जिन कर्मों का विपाक अर्थात् फल मुख्यतः पुद्गल स्प शरीर में होता है वह पुद्गल-विपाकी कम है। इनके निमित्त से जीव के शरीर आदि की सरचना हाती है।

पुराण—त्रसठ शलाका पुरुषों के जीवन-चरित्र पर आधारित शास्त्र को पुराण कहत है।

पुरुष-वेद—जिस कर्म के उदय से स्त्री के प्रति कामसेवन का भाव उत्पन्न होता है वह पुरुषवेद है।

पुरुषार्थ-चेष्टा या पथल करना पुरुषार्थ है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—यह चार पकार का पुरुषार्थ कहा गया है। धर्म और मोक्ष पुरुषार्थ के द्वारा जीव मोक्ष प्राप्त करता है। धर्म से रहित अर्थ और काम पुरुषार्थ मात्र ससार बढ़ाने वाले हैं।

को दना पूति दोष है। अथवा चूल्हा, ओखली, चम्पच, भोजन पकाने के वर्तन तथा सुगंध युक्त द्रव्य—इन पाचों में ऐसा सकल्प करना कि इस चूल्हे आदि से वना भोजन जब तक साधु को न दे दे तब तक अन्य किसी को नहीं देगे यह पूति-दोष है।

पूर्व-1 जिसमें उत्पाट, व्यय और धोब्य आदि की प्रस्तुपणा की जाती है उसे पूर्व कहते हैं। पूर्व के चौदह भेद प्रसिद्ध हैं। 2 यह काल का एक विशेष प्रमाण है। चोरासी लाख वर्ष का एक पूर्वाग होता है और चोरासी लाख पूर्वाग का एक पूर्व होता है।

पूर्व-स्तुति-यदि साधु दाता के सामने उसकी स्तुति करके आहार ग्रहण करता है तो पूर्व-स्तुति नाम का दोष है।

पृच्छना-ग्रथ या ग्रथ के अर्थ के विषय में सशय दूर करने के लिए या निर्णय की पुष्टि के लिए दूसरे से पूछना या प्रश्न करना पृच्छना नाम का स्वाध्याय है।

पृथक्त्व-1 द्रव्य, गुण और पर्याय के भिन्नपने को पृथक्त्व कहते हैं। 2 पृथक्त्व यह आगमिक सज्जा है। इसके द्वारा तीन से नो के मध्य की किसी सख्ता का वोध होता है। जैसे—वर्ष-पृथक्त्व कहने पर तीन से नो वर्ष के बीच की अवधि का वाध होता है।

पृथक्त्व-विक्रिया-अपने शरीर से भिन्न भवन, मडप आदि अनेक रूप धारण करने की सामर्थ्य हाना पृथक्त्व-विक्रिया कहलाती है। यह देवों में जन्म से पायी जाती है तथा मनुष्यों को तप व विद्या से प्राप्त होती है।

पृथक्त्व-वितर्क-वीचार-इस ध्यान में प्रवेश पाने वाले महामुनि समस्त रागादि विकल्पों से रहित होकर अनेक द्रव्यों का अलग-अलग

आत्मन लेकर अर्थ, व्यजन और योगो मे परिवर्तन करते हुए श्रुतज्ञान के माध्यम से ध्यान करते है। यह पहला शुक्ल-ध्यान है।

पृथिवीकाय-पृथिवीकायिक जीव के द्वारा छोड़े गए शरीर को पृथिवीकाय कहते है।

पृथिवीकायिक-पृथिवी ही जिसका शरीर है उसे पृथिवीकायिक-जीव कहते है।

पृथिवीजीव-जो जीव पृथिवीकायिक मे उत्पन्न होने के लिए विग्रहगति मे जा रहा है उसे पृथिवी-जीव कहते है।

पेय-पीने योग्य दूध, पानी आदि पतले पठार्थ पेय कहलाते हे।

पोतज-जिस जीव के शरीर के सब अवयव विना आवरण के पूरे हुए हे और जो गर्भ से बाहर निकलते ही चलने-फिरने मे समर्थ होता हे उसे पोत कहते है। पोत-रूप से जन्म लेना पोतज कहलाता है। हरिण आदि जीव पोतज होते है।

प्रकृति-वध-प्रकृति का अर्थ स्वभाव होता है। जैसे गुड मे मधुरता का होना उसकी प्रकृति है। इसी प्रकार आत्मा के द्वारा ग्रहण किए गए पुद्गल स्कंध मे ज्ञान आदि को आवरित करने रूप कर्म प्रकृति का होना ही प्रकृति वध है। प्रकृति वध दो प्रकार का है—मूल प्रकृति और उत्तर प्रकृति। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अतराय ये आठ मूल कर्म प्रकृतिया है। इन मूल प्रकृतियो के भेद-प्रभेद रूप एक सौ अडतालीस उत्तर प्रकृतिया है। एक बार खाए गए अन्न का जिस प्रकार रस, रुधिर आदि रूप

से अनेक पकार का परिणमन होता है उसी प्रकार एक आत्म-परिणाम के हारा ग्रहण किए गए पुद्गल ज्ञानावरणादि रूप अनेक धंदों का प्राप्त होते हैं।

प्रचला—मट, खेट या थकावट आदि के कारण वेठे-वेठे ही डापकी आ जाना प्रचला है। प्रचला के तीव्र उदय में जीव किंचित् नेत्रों को खोलकर सोता है और सोता हुआ भी कुछ जागता रहता है। बार-बार सोता और जागता है। सिर थोड़ा-थोड़ा हिलता रहता है।

प्रचला-प्रचला—प्रचला की पुनरावृत्ति का नाम प्रचला-प्रचला है। पचला-पचला के तीव्र उदय में जीव खड़े-खड़े भी सो जाता है और हाथ, पेर, सिर आदि चलायमान हो जाते हैं।

प्रज्ञा-परीषह-जय—अनेक शास्त्रों में पारगत और निपुण होते हुए भी जो साधु अपन शास्त्र ज्ञान का अभिमान नहीं करता और सदा समता रखता है उसका यह प्रज्ञा-परीषह-जय कहलाता है।

प्रज्ञा-श्रमण-ऋद्धि—जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु विशेष अध्ययन के बिना भी समस्त शास्त्रों को सूक्ष्मता से जानने में समर्थ होता है उसे प्रज्ञा-श्रमण-ऋद्धि कहते हैं।

प्रतिक्रमण—। किए गये दोषों की निवृत्ति का नाम प्रतिक्रमण है। जब चारित्र का पालन करते हुए साधु से कोई दोष हो जाता है तो मन, वचन से ‘मैने यह अयोग्य कार्य किया’ ऐसा पश्चात्ताप रूप परिणाम उत्पन्न होता है। यही प्रतिक्रमण कहलाता है। देवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, वार्षिक, ईर्यापथ और उत्तमार्थ के भेद से प्रतिक्रमण सात प्रकार का है। यह साधु का एक मूलगुण है।

२ जिसमे देश काल के अनुरूप सात प्रकार के प्रतिक्रमण का कथन किया गया हे वह प्रतिक्रमण नाम का अङ्गबाह्य हे ।

प्रतिजीवी-गुण-द्रव्य में जो अभाव स्वप गुण हे उन्हे प्रतिजीवी-गुण कहते है । जैसे नास्तित्व, अमूर्तत्व आदि ।

प्रतिनारायण—ये नारायण के शत्रु होते हे और युद्ध मे नारायण के हाथो मरण को प्राप्त कर नरक जाते है । एक अवसर्पिणी या उत्सर्पिणी काल मे कुल नो प्रतिनारायण होते है । अन्य शलाका पुरुषो की तरह इनका शरीर भी उत्तम सहनन व उत्तम सस्थान वाला होता हे ।

प्रतिमा—१ नेष्ठिक श्रावक के व्रतादि गुणो मे उत्तरोत्तर विकास के ग्यारह स्थान कहे गये हे । यही श्रावक की ग्यारह प्रतिमा कहलाती है । आगे की प्रतिमा के साथ पहले की प्रतिमा के व्रत नियम भी पालन करना अनिवाय होता हे । २ अर्हन्त आदि की वीतराग मूर्ति को प्रतिमा कहते हे । यह पाषाण, काष्ठ, धातु, रल आदि से निर्मित हो सकती हे ।

प्रतिष्ठा—पत्रोच्चारण आदि विधि-विधान पूर्वक रल, पाषाण आदि से निर्मित वीतराग प्रतिमा मे अर्हन्त आदि की स्थापना करना प्रतिष्ठा कहलाती हे ।

प्रतिष्ठापन-समिति—जहा जीवो की विराधना न हो ऐसे निर्जन्तुक स्थान मे मल मूत्र आदि का सावधानी से विसर्जन करना प्रतिष्ठापन या उत्सर्ग समिति हे । यह साधु का एक मूलगुण है ।

प्रतीत्य-सत्य—अन्य वस्तु की अपेक्षा से जो कहा जाए वह प्रतीत्य-सत्य है । जैसे—‘यह दीर्घ हे’ या ‘वह हस्त है ।’

प्रत्यक्ष-ज्ञान-इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना जो स्पष्ट ओर विशद ज्ञान आत्मा में होता हे उसे प्रत्यक्ष-ज्ञान कहते हे। प्रत्यक्ष के दो भैट हे—सकल और विकल। केवलज्ञान सकल-प्रत्यक्ष हे और अवधिज्ञान एवं मन पर्ययज्ञान विकल-प्रत्यक्ष हे।

प्रत्यभिज्ञान—‘यह वही हे’—इस प्रकार के स्मरण को प्रत्यभिज्ञान कहते हे। आशय यह हे कि पहले जिस वस्तु को देखा था उसे पुन देखने पर ‘यह वही हे’—इस प्रकार का प्रत्यभिज्ञान होता हे। प्रत्यभिज्ञान अनेक प्रकार से होता हे जैसे—‘यह वही हे’, ‘यह उसके सदृश्य हे’, ‘यह उससे भिन्न हे’ आदि।

प्रत्यय—प्रत्यय शब्द के अनेक अर्थ हे। प्रत्यय का अर्थ ज्ञान है। प्रत्यय का अर्थ शब्द भी हे। प्रत्यय शब्द हेतु या कारण वाचक भी हे। जेनागम में प्रत्यय शब्द मुख्यतः आस्त्रव व वध के कारणों के लिए प्रयुक्त होता हे। मिथ्यात्म, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग यह पाच आस्त्रव व वध के हेतु या प्रत्यय कहलाते हे।

प्रत्याख्यान—भविष्य मे दोष न होने दने के लिए सन्नद्ध होना प्रत्याख्यान हे। अथवा साधु के द्वारा आहार ग्रहण करने के उपरान्त निश्चित काल के लिए जो सब प्रकार के आहार का त्याग कर दिया जाता हे वह प्रत्याख्यान कहलाता हे। यह साधु का एक मूलगुण है। इसके छह भद्र हे—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। अयोग्य नामों का उच्चारण नहीं करने का सकल्प लेना नाम प्रत्याख्यान हे। वीतरागी के सिवाय अन्य किसी प्रतिमा की पूजा नहीं करने का सकल्प लेना स्थापना-प्रत्याख्यान हे। अयोग्य आहार व उपकरण आदि ग्रहण

न करने का सकल्प करना द्रव्य-प्रत्याख्यान है। सकलेश उत्पन्न कराने वाले स्थान का त्याग करना क्षेत्र-प्रत्याख्यान है। अयोग्य काल का त्याग करना काल-प्रत्याख्यान है। अशुभ-परिणामों के त्याग का सकल्प करना भाव-प्रत्याख्यान है।

प्रत्याख्यान-प्रवाद-जिसमें व्रत, नियम, प्रतिक्रमण, तप, आराधना आदि का तथा साधु के अयोग्य वस्तु के त्याग आदि का वर्णन है वह प्रत्याख्यान-प्रवाद-पूर्व नाम का नोवा पूर्व है।

प्रत्याख्यान-सेवना-यदि साधु आहार करते समय त्याग की गई वस्तु को प्रभादवश ग्रहण करे तो यह प्रत्याख्यान-सेवना नाम का अन्तराय है।

प्रत्याख्यानावरण-जिस कषाय के उदय म जीव सकल सयम अर्थात् मनान्तरों को धारण करने में समर्थ नहीं होता उसे प्रत्याख्यानावरण कहते हैं। यह क्रोध, मान, माया और लोभ इन चारों स्पों में होती है।

प्रत्याहार-मन की प्रवृत्ति का सकोच कर लेने पर जो मानसिक सतोष होता है उसे प्रत्याहार कहते हैं। यह ध्यान का एक अङ्ग है।

प्रत्येक-वनस्पति-जीव-जिसमें एक शरीर का स्वामी एक जीव होता है वह प्रत्येक वनस्पति कहलाती है। अथवा प्रत्येक अर्थात् एक-एक जीव का एक-एक पृथक् शरीर जिसमें होता है वह प्रत्येक वनस्पति है। पर्येक वनस्पति के दो भट्ट हैं—सप्रतिष्ठित-पत्येक और अप्रतिष्ठित-प्रत्येक। तृण, वल, म्हांटे वृक्ष, घड़ वृक्ष आर कन्द म्ल—गान पाच म्पां में पत्येक वनस्पति दिखाइ पड़ती है। ये पाचों

वनस्पति जब निर्गोद या साधारण शरीर से आश्रित हो तो सप्रतिष्ठित-प्रत्येक कहलाती है और जब निर्गोद से रहित हो तो अप्रतिष्ठित-प्रत्येक कहलाती है।

प्रत्येक-बुद्धि ऋद्धि-जिस ऋद्धि के प्रभाव से गुरु के उपदेश के बिना ही कर्मों के उपशम से सम्यग्ज्ञान और तप के विषय में प्रगति होती है उसे प्रत्येक-बुद्धि-ऋद्धि कहते हैं।

प्रत्येक-शरीर-जिस कर्म के निमित्त से एक शरीर का स्वामी एक जीव होता है उसे प्रत्येक-शरीर-नामकर्म कहते हैं।

प्रथमानुयोग-1 एक महापुरुष सवधी या त्रेसठ शलाका पुरुष सवधी कथा रूप शास्त्र को प्रथमानुयोग कहत है। यह पुण्यवर्धक, वोधि व समाधिदायक परमार्थ का कथन करने वाला जिनवाणी का प्रमुख अङ्ग है। कथा के माध्यम से धर्म के स्वरूप का प्रतिपादन करने वाला यह अनुयोग प्राथमिक जीवों के लिए अत्यत उपकारी है। इसे सुनकर जीवों को सम्यग्दर्शन रूप वोधि और धर्म व शुक्ल ध्यान रूप समाधि की प्राप्ति होती है। इसमें वर्णित कथा वास्तविक होती है, कल्पित नहीं होती। जम्बूस्वामी-चरित्र, प्रद्युम्न-चरित्र, महापुराण, उत्तरपुराण, पद्मपुराण आदि ग्रथ प्रथमानुयोग रूप हैं। 2 जो पुराणों का वर्णन करता है वह प्रथमानुयोग है। यह दृष्टिवाद नामक वारहवे अङ्ग का तीसरा भेद है।

प्रथमोपशम-सम्यक्त्व-मिथ्यादृष्टि जीव के मिथ्यात्व से छूटकर जो सर्वप्रथम उपशम-सम्यक्त्व होता है वह प्रथमोपशम-सम्यक्त्व कहलाता है। प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन प्राप्त करने वाला जीव पचेन्द्रिय,

सज्जी, मिथ्यादृष्टि, पर्याप्तक और सर्व विशुद्ध होना चाहिए। नारकी, तिर्यच, मनुष्य और देव ये चारा ही गति के मिथ्यादृष्टि जीव प्रथमोपशम सम्बन्ध उत्पन्न कर सकते हैं।

प्रदेश-एक परमाणु आकाश में जितनी जगह धेरता है उतने आकाश को एक प्रदेश कहते हैं।

प्रदेशत्व-जिसके द्वारा इव्य का कोई न कोई आकार बना रहता है वह प्रदेशत्व गुण है।

प्रदेशवध- 1 कर्म-प्रकृतियों के कारणभूत प्रतिसमय योग-विशेष के द्वारा सूक्ष्म एक क्षेत्रावगाही और स्थित अनन्तानन्त पुद्गल परमाणु सब आत्म-प्रदेशों में सबध को प्राप्त होते हैं, यह प्रदेश-वध है। 2 कर्म रूप से परिणत पुद्गल स्कंधों का परमाणु की जानकारी करके निश्चय करना प्रदेश-वध है।

प्रभाव-शाप और अनुग्रह की शक्ति को प्रभाव कहते हैं। यह शक्ति देवों में पायी जाती है।

प्रभावना- 1 ज्ञान, ध्यान, तपश्चरण, दया, दान तथा जिनपूजा आदि के द्वारा जिन-धर्म की महिमा को प्रकाशित करना प्रभावना है। 2 रत्नव्य के प्रभाव से अपनी आत्मा को प्रकाशित करना प्रभावना है। यह सम्यग्दृष्टि का एक गुण है।

प्रमत्त-सयत-जो साधु व्यक्त और अव्यक्त प्रमाद से युक्त रहकर भी महात्रों का पालन करते हैं वे प्रमत्त-सयत कहलाते हैं। आहार-विहार, अध्ययन-मनन और धर्मोपदेश आदि शुभ व्रिया रूप प्रमाद से युक्त

होने के कारण ये प्रमत्त-सयत ह ।

प्रमाण-सम्पर्जान को प्रमाण कहते हैं । प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से प्रमाण दो प्रकार का है । स्वार्थ और परार्थ—ये दो भेद भी प्रमाण के हैं । ज्ञानात्मक प्रमाण को स्वार्थ प्रमाण कहते हैं और वचनात्मक प्रमाण को परार्थ प्रमाण कहा गया है । श्रुतज्ञान को छोड़कर शेष चारों ज्ञान स्वार्थ प्रमाण है तथा श्रुतज्ञान स्वार्थ व परार्थ दोनों रूप हैं ।

प्रमाण-दोष—साधु यदि मात्रा से अधिक आहार ग्रहण करे तो यह प्रमाण-दोष कहलाता है । जितने आहार से धेर्य, बल, सयम और योग ठीक बना रहे उतना ही आहार का प्रमाण है ।

प्रमाद—१ अच्छे कार्यों के करने में आदर-भाव का न हाना प्रमाद कहलाता है । २ सज्जलन कपाय के तीव्र उदय का नाम प्रमाद है । प्रमाद के पद्रह भेद है—चार विकथा, पाच इन्द्रिय, चार कषाय, निद्रा और प्रणय ।

प्रमाद-चर्या—विना प्रयोजन के पृथिवी खोदना, जल फैलाना, अग्नि जलाना-बुझाना, वनस्पति को छेदना, गमन करना या करना प्रमाद-चर्या नाम का अनर्थदण्ड है ।

प्रमादवर्धक—जिसके संवन से उन्माद या नशा आता है ऐसे मंदिरा आदि मादक पदार्थ प्रमादवर्धक अभक्ष्य कहलाते हैं ।

प्रमेयत्व—जिसके द्वारा द्रव्य किसी न किसी ज्ञान का विषय बनता है अर्थात् जानन में आता है वह प्रमेयत्व-गुण है ।

प्रमोद—गुणीजनों को देखकर मुख की प्रसन्नता आदि के द्वारा अत्तरण भक्ति और अनुराग का व्यक्त होना प्रमोद है।

प्रयोग-क्रिया—शरीर के द्वारा होने वाली गमनागमन आदि रूप प्रवृत्ति ही प्रयोग-क्रिया है।

प्रवचन—वर्ण, पंक्ति आदि रूप द्वादशाग को प्रवचन कहते हैं। अथवा अर्हन्त भगवान के वचन रूप आगम को प्रवचन कहते हैं।

प्रवचन-भक्ति—द्वादशाग रूप प्रवचन में कहे गए अर्थ का अनुष्ठान करना प्रवचन-भक्ति है। अथवा प्रवचन में अनुराग रखना प्रवचन-भक्ति है। यह सोलह-कारण भावना में एक भावना है।

प्रवचन-मातृका—पाच समिति और तीन गुप्ति को अष्ट प्रवचन-मातृका कहते हैं। ये अष्ट प्रवचन-मातृका मुनि के ज्ञान, दर्शन और चारित्र की सदा ऐसे रक्षा करती हैं जैसे पुत्र का हित करने में सावधान माता उसे सदा पापों से बचाती है।

प्रवचन-वत्सलत्व—जिस प्रकार गाय अपने बछड़े से सहज स्नेह करती है उसी प्रकार धर्मात्मा को देखकर सहज स्नेह से ओतप्रोत हो जाना प्रवचन-वत्सलत्व है। यह सोलह कारण भावना में एक भावना है।

प्रब्रज्या—जिनदीक्षा को प्रब्रज्या कहते हैं। वैराग्य से ओतप्रोत होकर निर्ग्रथ गुरु की शरण में जाकर समस्त आरभ-परिग्रह का त्याग करके यथाजात वालकवत् निर्विकार नग्न रूप धारण करना और समता पूर्वक तपस्वी जीवन जीने की प्रतिज्ञा करना प्रब्रज्या कहलाती है।

प्रशग—पचेन्द्रिय के विषयों में तथा तीव्र क्रोधादि में मन को नहीं जाने

देना प्रश्नम-भाव है। यह सम्यग्दृष्टि का एक गुण है।

प्रश्नस्त-नि सरणात्मक-तेजस-जगत् के जीवों को रोग शोक आदि से पीड़ित देखकर परम तपस्वी दयालु साधु की इच्छा से हस के समान उज्ज्वल सुंदर आकृति वाला पुरुष उनके दाहिने कंधे से निकलकर व्याधि, वेदना, दुर्भिक्ष आदि को शात कर सब जीवों को सुख उत्पन्न करता है, यह प्रश्नस्त नि सरणात्मक-तेजस या शुभ तेजस कहलाता है।

प्रश्नस्त-राग-अरहन्त, सिद्ध, साधुओं के प्रति भवित्ति, दान, पूजा आदि धर्म कार्यों में उत्साह और गुरुओं का अनुकरण करना प्रश्नस्त-राग कहलाता है।

प्रश्न-व्याकरणाङ्ग-जिसम युक्ति ओर नयों के द्वारा अनेक प्रश्नों का उत्तर दिया गया है वह प्रश्न-व्याकरणाङ्ग है।

प्रस्तवण-यदि आहार के समय साधु के शरीर से किसी रोगवश अनायास मूत्रादि निकले तो यह प्रस्तवण नाम का अतराय है।

प्रहार-यदि आहार के समय साधु के ऊपर या किसी दूसरे के ऊपर कोई प्रहार कर दे तो यह प्रहार नाम का अतराय है।

प्राकाम्य ऋद्धि-जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु जल के समान पृथिवी पर और पृथिवी के समान जल पर गमन करने में समर्थ होते हैं वह प्राकाम्य-ऋद्धि कहलाती है।

प्राण-जिसके द्वारा प्रत्येक जीव जीता है उसे प्राण कहते हैं। प्राण दो प्रकार के हैं—द्रव्य-प्राण और भाव-प्राण। जीव के चेतना या ज्ञान-दर्शन

रूप भाव-प्राण है तथा पाच इन्द्रियप्राण, मन, वचन, काय, रूप तीन बलप्राण, आयु और श्वासोच्छ्वास—इस तरह दस द्रव्य-प्राण हैं।

प्राणातिपातिकी-क्रिया—जीव के प्राणों का वियोग करने वाली क्रिया को प्राणातिपातिकी-क्रिया कहते हैं।

प्राणापान—देखिए उच्छ्वास नामकर्म।

प्राणायाम—मन, वचन और काय की क्रिया को नियंत्रित करना तथा शुभ-भाव रखना प्राणायाम कहलाता है। प्राणायाम के तीन अङ्ग हैं—श्वास को धीरे-धीरे अदर खींचना कुम्भक है, उसे रोके रहना पूरक है और धीरे-धीरे उसे बाहर छोड़ना रेचक है। इन तीनों का अभ्यास प्राणायाम कहलाता है। जैनागम में इसे अधिक महत्वपूर्ण नहीं माना गया है क्योंकि चित्त की एकाग्रता हो जाने पर श्वास का नियंत्रण स्वत हो जाता है।

प्राणावाय-प्रवाद—शरीर-चिकित्सा आदि अष्टाग आयुर्वेद, भूतिकर्म, विषविद्या तथा प्राणायाम आदि के भेद-प्रभेदों का वर्णन करने वाला प्राणावाय-प्रवाद-पूर्व नाम का बारहवा पूर्व है।

प्राणिसयम—देखिए सयम।

प्रातिहार्य—अर्हन्त भगवान की महिमा और विभूति प्रकट करने वाले प्रातिहार्य होते हैं। अशोक वृक्ष, तीन छत्र, सिहासन, दिव्यध्यनि, दुन्दुभि, पुष्पवृष्टि, भामण्डल और चौसठ चमर—ये आठ प्रातिहार्य प्रसिद्ध हैं।

प्रात्ययिकी क्रिया-नयं-नय अधिकरणों का उत्पन्न करना प्रात्ययिकी-क्रिया है।

प्रादुष्कार-दोप-यह दाप सक्रमण और प्रकाशन के भेट से दो प्रकार का ह। साधु के आ जाने पर आहार सामग्री एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना सक्रमण नाम का प्रादुष्कार-दोप है तथा आहार के स्थान पर प्रकाश कम होने पर किवाड़ खोलना या दोपक आदि जलाना प्रकाशन नाम का प्रादुष्कार-दोप है।

प्रादोपिकी-क्रिया-क्राध के आवंश से होने वाली प्रादोपिकी-क्रिया है।

प्राप्ति ऋद्धि-जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु भूमि पर स्थित रहकर अगुलि के अग्र भाग से सूय, चद्र कं, मरुशिखर कं या अन्य वस्तुओं का स्पर्श करने में समय होता है वह प्राप्ति-ऋद्धि है।

प्राभृत-दोष-दिन, पक्ष, महीना, वप या ऋतु आदि को बदलकर आहार देना प्राभृत-दोष है। अथवा प्रात का मध्याह्न में ओर मध्याह्न का प्रात काल म, एसा समय बदलकर साधु को आहार देना प्राभृत-दोष है।

प्रामृष्य-साधु को आहार कराने के लिए दूसरे से आहार सामग्री उधार लेना प्रामृष्य नामक दोष है।

प्रायश्चित-प्रमादजन्य दोषों का परिहार करना प्रायश्चित नाम का तप है। व्रता में दोष लगने पर साधु अपने दोषों का निराकरण करने के लिए जो उपवास आदि अनुष्ठान करते हैं वह प्रायश्चित कहलाता है। यह साधु का एक मूलगुण है।

प्रायोग्य-लक्ष्य-सर्व कर्मों की उल्कृष्ट स्थिति और उल्कृष्ट अनुभाग

को धात करके अन्त कोडाकोडी स्थिति में और द्विस्थानीय अनुभाग में स्थित कर देना प्रायोग्य-लब्धि कहलाती है।

प्रायोपगमन-जीवन पर्यन्त के लिए आहार का त्याग करके और समस्त सेवा-वेय्यावृत्ति से रहित होकर जो समाधि ली जाती है उसे प्रयोपगमन नामक सल्लेखना कहा गया है। इस प्रकार की सल्लेखना उत्तम सहनन के धारी महावलशाली और शूरवीर तपस्वी साधु ही धारण कर सकते हैं। पचमकाल में यह सभव नहीं है।

प्रारम्भ-क्रिया-छेदना-भेदना, रचना करना आदि क्रियाओं में स्वयं तत्पर रहना तथा दूसरे के द्वारा किये जाने पर हर्षित होना प्रारम्भ-क्रिया है।

प्रासुक-जल, वनस्पति आदि को विशेष-प्रक्रिया के द्वारा सूक्ष्म जीवों के सचार से रहित कर लेना प्रासुक करना कहलाता है। जिसमें से एकेन्द्रिय आदि जीव निकल जाते हैं वह प्रासुक द्रव्य माना जाता है। स्वच्छ वस्त्र से छाना गया जल दो प्रहर तक प्रासुक रहता है तथा उबला हुआ जल चौबीस धंट तक प्रासुक रहता है।

प्रासुक-मार्ग-जिस मार्ग से आवागमन हो रहा है, जो सूर्य की किरणों से तप चुका है या जहा खेती के लिए हल चलाया गया है वह प्रासुक-मार्ग है। साधु-जन प्रासुक-मार्ग से ही गमन करते हैं।

प्रेमानुराग-साधर्मी भाई को प्रेमवश बार-बार उपदेश देकर सन्मार्ग पर स्थित रखने का भाव होना प्रेमानुराग कहलाता है।

प्रोषधोपवास- 1 प्रोषध का अर्थ पर्व है। पर्व के दिन उपवास करना प्रोषधोपवास कहलाता है। 2 एक बार दिन में भोजन करना प्रोषध

है। जिस उपवास के पहले और वाद में प्रांगण किया जाए वह प्रोष्ठघोपवास है।

प्रोष्ठघोपवास-प्रतिमा—तीसरी सामायिक-प्रतिमा धारण करने के उपरान्त प्रतिमाह अष्टमी व चतुर्दशी के दिन उपवास करने की प्रतिज्ञा लेना—यह श्रावक की चोरी प्रोष्ठघोपवास-प्रतिमा कहलाती है।

फ

फल-चारण ऋद्धि—जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु फलो में रहने वाले जीवों को पीड़ा पहुचाए बिना उनके ऊपर से चलने में समर्थ होते हैं वह फल-चारण-ऋद्धि कहलाती है।

ब

बन्ध-कर्म का आत्मा के साथ एकक्षेत्रावगाह होना वधु कहलाता है। अथवा दूध व पानी की तरह कर्म और आत्मा का परस्पर सश्लेष सवध होना वधु कहलाता है। वधु दो प्रकार का है—भाव-वधु और द्रव्य-वधु। जीव के क्रोधादि परिणाम ही भाव-वधु है तथा जीव के साथ ज्ञानावरणीय आदि पुद्गल कर्म का सवध होना द्रव्य-वधु है। प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग के भैद से वधु चार प्रकार का है।

बन्धन-नामकर्म—शरीर की रचना के लिए प्राप्त हुए पुद्गलों का जिस कर्म के उदय से परस्पर सश्लेष होता है वह बन्धन-नामकर्म है। यदि बन्धन नामकर्म न हो तो शरीर लकड़ियों के ढेर के समान हो जावेगा।

बकुश—जो निर्ग्रथ है और महाग्रतों का अखड़ पालन करते हैं लेकिन शरीर व उपकरणों की शोभा बढ़ाने में रुचि रखते हैं तथा ऋद्धि व यश प्राप्ति की कामना करते हैं वे साधु बकुश कहलाते हैं।

बलभद्र—ये नारायण के सगे भाई होते हैं। हलायुध, वाण, गदा और माला—इन चार महारत्नों के साथ अपार वेभव के स्वामी होते हैं। एक उत्सर्पिणी या अवसर्पिणी काल में कुल नो बलभद्र उत्त्यन्न होते हैं जो स्वर्ग या मोक्षगामी है।

बलिशेष-दोष—यक्ष, नाग आदि देवों के लिए चढाई गई बलि अर्थात् पूजन सामग्री में से शेष वची हुई सामग्री साधु को आहार में देना बलिशेष नामक दोष है।

बहिरात्मा—जो जीव मिथ्यात्व के उदय से शरीर और आत्मा को एक मानता है वह बहिरात्मा है।

वहु-अवग्रह—वहुत सी वस्तुओं को एक साथ जान लेना वहु-अवग्रह कहलाता है। जैसे—पाचों अगुलि को एक साथ जानना।

बहुधात—जिनके सेवन से वहुत जीवों का धात होता है ऐसे कदमूल, आलू, मूली, गाजर, अजीर आदि वहुधात नामक अभक्ष्य है।

बहुमान—बहुमान का अर्थ आदर या सम्मान है। मन को एकाग्र करके बड़े आदर से जिनवाणी का स्वाध्याय करना बहुमान कहलाता है।

बहुविध-अवग्रह—वहुत सी वस्तुओं को या एक ही वस्तु को वहुत प्रकार से जानना बहुविध-अवग्रह कहलाता है। जैसे—गेहूं, चना आदि वहुत प्रकार के धान्य को जानना।

बहुश्रुत-भक्ति—जो मुनि द्वादशाङ्क के पारगामी है वे बहुश्रुत कहलाते हैं। ऐसे बहुश्रुतवान के द्वारा उपदेशित आगम के अनुरूप प्रवृत्ति करना बहुश्रुत-भक्ति कहलाती है। यह सोलहकारण भावना में एक भावना है।

बादर-काय—जिन जीवों का शरीर स्थूल अर्थात् प्रतिधात सहित होता है वे बादरकाय हैं। अथवा जो दूसरे को रोके और स्वयं भी दूसरे से रुके वह स्थूल या बादरकाय है।

बादर-नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव बादर-काय में उत्पन्न होता है वह बादर-नामकर्म है।

बाल-त्तप—मिथ्यादृष्टि अज्ञानी जीव के द्वारा किया जाने वाला तप

वाल-तप कहलाता है।

वाल-पण्डित-मरण—सम्यग्दृष्टि देशब्रती श्रावक का मरण वाल-पण्डित-मरण कहलाता है।

वाल-वाल-मरण—अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव के मरण को वाल-वाल-मरण कहते हैं।

वाल-मरण—अविरत-सम्यग्दृष्टि जीव का मरण वाल-मरण है।

बाहुबली—ये भगवान ऋषभदेव के पुत्र और भरत चक्रवर्ती के छोटे भाई थे। इनकी मां का नाम सुनदा था। ऋषभदेव के वैराग्य के उपरात इन्हे पोटनपुर का युवराज पद मिला। अपने ही भाई भरत-चक्रवर्ती से युद्ध में जीतकर सासार से विरक्त हो गए। जिनदीक्षा लेकर एक वर्ष तक तपस्या में लीन रहकर केवलज्ञान प्राप्त किया और भगवान ऋषभदेव से पहले ही मोक्ष चले गए। ध्यानावस्था में इनके शरीर पर लताए लिपट गर्णी ओर सर्पों ने आसपास वाबी बना ली फिर भी ये ध्यान मग्न रहे। इस बात को दशनि के लिए आज भी इनकी प्रतिमा पर लताए लिपटी हुई दिखाई जाती है। दक्षिण भारत में स्थित गोम्बटेश्वर वाहुबली भगवान की अत्यत विशाल और सुदर मूर्ति विश्व को आश्चर्य चकित करने वाली है।

वाह्य-तप—जो तप वाह्य द्रव्य के आलम्बन से होता है और दूसरों के देखने में आता है उसे वाह्य-तप कहते हैं। अनशन, अवमोदर्य, वृत्ति-परिसख्यान, रस-परित्याग, विविक्त-शाय्यासन और काय-क्तेश—ये छह प्रकार का वाह्य-तप हैं।

बीज-पद—जिस प्रकार बीज ही वृक्ष के मूल, फल, शाखा, पत्र आदि का आधार है उसी प्रकार द्वादशाग जिनवाणी के आधारभूत जो पद है वह बीज तुल्य होने से बीजपद कहलाते हैं।

बीज-बुद्धि ऋद्धि—जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु की बुद्धि एक ही बीज-पद के आश्रय से सपूर्ण द्वादशाग को जानने और विचार करने में समर्थ होती है उसे बीज-बुद्धि-ऋद्धि कहते हैं।

बीज-सम्यक्त्व—जिन जीवादि पदार्थों का ज्ञान दुर्लभ है उनका किसी बीज पद के द्वारा ज्ञान प्राप्त होने पर जो सम्यग्दर्शन होता है उसे बीज-सम्यक्त्व कहते हैं।

बुद्धि-बुद्धि का अर्थ ज्ञान है। या जिसके द्वारा अर्थ जाना जाए उसे बुद्धि कहते हैं। यह इन्द्रियों के आलम्बन से उत्पन्न होती है।

बोधि-सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्र की प्राप्ति होना बोधि है।

बोधिदुर्लभ-अनुप्रेक्षा—निगोद से निकलना, त्रस पर्याय पाना, और सज्जी पचेन्द्रिय मनुष्य होना अत्यन्त दुर्लभ है। कदाचित् इसकी प्राप्ति हो जाए तो उत्तम देश, कुल और नीरोगता प्राप्त होना कठिन है। इस सबके मिल जाने पर भी विषय सुख से विरक्त होना, रत्नत्रय रूप बोधि को अगीकार करके तप की भावना करना, समाधि पूर्वक मरण को प्राप्त होना और केवलज्ञान पाना अति दुर्लभ है यही बोधि का सुफल है—ऐसा वार-वार विचार करना बोधिदुर्लभ-अनुप्रेक्षा है।

बोधित-बुद्ध—जिनको परोपदेश पूर्वक ज्ञान की प्राप्ति होती है वे बोधित-बुद्ध कहलाते हैं।

ब्रह्मचर्य-मेथुन या कामसंवन का त्याग करना ब्रह्मचर्य है। अथवा ब्रह्म का अथ आत्मा हे सा आत्मा मे जीन होना ब्रह्मचर्य है।

ब्रह्मचर्यणुद्रत-पगयी स्त्री का माता, वहिन आर पुत्री के समान मानना और अपनी धर्मपत्नी मे मतुष्ट रहना ब्रह्मचर्य अणुद्रत है।

ब्रह्मचर्य-प्रतिमा-रात्रि-भुक्ति-त्याग नामक छठवी प्रतिमा धारण करने के उपरात जीवन-पर्यन्त के लिए अपनी धर्मपत्नी मे भी कामसंवन नहीं करने की पतिज्ञा लेना वह श्रावक की सातवीं ब्रह्मचर्य-प्रतिमा है।

ब्रह्मर्पि-जो भाषु वुद्धि-क्रुद्धि आर ओषध-क्रुद्धि से युक्त होते हैं वे ब्रह्मर्पि कहलाते हैं।

ब्राह्मी-ये तीर्थकर ऋषभदेव आर गनी यशस्वितो को पुत्री थी। वे जील ओर विनय मे युक्त थीं। इन्हाने अपने पिता मे सर्वप्रथम लिपि-विद्या सीखी। आज अत्यत प्राचीन ब्राह्मी लिपि इन्हीं के नाम से प्रचलित है। अल्प वय मे ही भगवान ऋषभदेव से दीक्षा लेकर आर्यिकाओं मे श्रष्ट पद पाया।

भ

भक्त-प्रत्याख्यान—शास्त्र में कही गई विधि के अनुरूप क्रमशः आहार का त्याग करके स्वतं और दूसरे के द्वारा भी शरीर की यथायोग्य सेवा-वैद्यावृत्ति कराते हुए जो समाधि-मरण किया जाता है वह भक्त-प्रत्याख्यान नामक सल्लेखना कहलाती है।

भक्ति—अर्हन्त आदि के गुणों में अनुराग रखना भक्ति है।

भद्र—मिथ्यात्व के मद उदय में जो जीव समीचीन जिनधर्म से द्वेष नहीं करता उसे भद्र कहते हैं।

भद्रा-वाचना—तर्कसगत समाधान देते हुए जिनागम में कहे गए जीवादि तत्त्व की व्याख्या करना भद्रा-वाचना है।

भय—जिस कर्म के उदय से जीव भय का कारण मिलते ही भयभीत हो जाता है वह भय नामक नोकपाय है। भय सात प्रकार का है—इहलोक, परलोक, अत्राण, अगुप्ति, मरण, वेदना और आकस्मिक-भय।

भय-सज्जा—अत्यत भय से उत्पन्न जो भागकर कहीं छिप जाने की इच्छा है उसे भय-सज्जा कहते हैं।

भरत—ये प्रथम चक्रवर्ती थे। अयोध्या के राजा तीर्थकर ऋषभदेव डनके पिता और रानी यशस्वती डनकी माता थी। इन्होंने छहों खण्ड पृथ्वी पर विजय प्राप्त की परन्तु अपने ही भाई वाहुवली सं युद्ध में हार गये थे। इनके साम्राज्य में ही सर्वप्रथम स्वयंवर प्रथा का शुभारभ

ह ग्रा था । इनके तीनों नाम पर इमरेंज का नाम भागतश्च पढ़ा । चिरकाल तक गम्य करने के उपर्युक्त इन्हाने जिनदीक्षा ने ली और अन्धमृहन में कवयन्त्रान प्राप्ति की । उनसे आयु चोगर्मी नाम वर्ष पूर्व थी । इन्हाने इन्हाम पवत पर नीतीम जिनानवा झा निमाण कराया और पाव सो बनुग ज्ञानी तीवंस इमरेंज की प्रतिमा स्थापित करायी ।

भरत-भेद-यह शब्द गण्डा में विभाजित है । इनमें पाव एवं लक्ष्मण और एक आवरण है । भाषी शनाका पुरुष भरत-भेद के आर्यस्त्रण में उत्पन्न हान है । भरत नक्षत्रों के नाम में इसका भरत-भेद नाम प्रसिद्ध हुआ है । अटार्ट हीप में पाव भरत-भेद है ।

भव-आयु रम रु उद्य में जीव को जा भनुव्य, देव आटि पर्याय रानी है उम भर झनने है । भनुव्य, निर्वच, नरक और देव-ये चार भज हैं ।

भवनवासी-भजनगमी, अन्तर ऊर ज्यानियो देव-ये तीनों भवनविक कहनात हैं ।

भवनवासी-जिमका स्वप्नाव भवनों में निवास करने का है वे भवनवासी देव कहनात हैं । भवनवासी देव दस प्रकार के हैं—असुरकुमार, नागकुमार, विद्युतकुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार, यानकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, छोपकुमार और दिक्कुमार ।

भव-परिवर्नन-समागी जीव न नरक की छाँटी से छोटी आयु से लेकर शुद्धयक विमान तक आयुकम से अनेक बार प्रमण किया है । नरक मति में जगन्त्य आयु दस हजार वर्ष की आयु है, भाय काढ जीव प्रथम नरक में उत्पन्न हुआ और आयु पूर्ण करके

मर गया, पुन उसी आयु को लेकर वहा उत्पन्न हुआ और मर गया। इस प्रकार दस हजार वर्ष के जितने समय है उतनी बार दस हजार वर्ष की आयु लेकर प्रथम नरक में उत्पन्न हुआ फिर एक समय अधिक दस हजार वर्ष की आयु लेकर वहीं उत्पन्न हुआ फिर दो समय अधिक दस हजार वर्ष की आयु लेकर उत्पन्न हुआ। इस प्रकार एक-एक समय बढ़ाते-बढ़ाते नरक गति की उल्कृष्ट आयु तेतीस सागर पूर्ण करता है। फिर तिर्यच-गति में अन्तर्मुहूर्त की जघन्य आयु लेकर उत्पन्न हुआ और पहले की तरह अन्तर्मुहूर्त के जितने समय है उतनी बार अन्तर्मुहूर्त की आयु लेकर वहा उत्पन्न हुआ। फिर एक-एक समय बढ़ाते-बढ़ाते तिर्यच गति की उल्कृष्ट आयु तीन पल्य पूरी करता है। फिर मनुष्य गति में उत्पन्न होकर तिर्यच गति के समान अन्तर्मुहूर्त की जघन्य आयु से लेकर तीन पल्य की उल्कृष्ट आयु क्रमशः बढ़ाते-बढ़ाते पूरी करता है। फिर देवगति में उत्पन्न होकर नरकगति के समान आयु को क्रमशः पूर्ण करता है। देवगति में इतनी विशेषता है कि वहा तेतीस सागर न होकर इकतीस सागर की आयु क्रमशः पूर्ण करता है क्योंकि मिथ्यादृष्टि की उत्पत्ति ग्रैवेयक तक ही होती है जहा उल्कृष्ट आयु इकतीस सागर है। इस प्रकार चारों गतियों की आयु को क्रम से प्राप्त करके पूर्ण करना यह भव-परिवर्तन है।

भवप्रत्यय-अवधिज्ञान-जिस अवधिज्ञान के होने में मुख्य रूप से भव ही निमित्त है वह भवप्रत्यय-अवधिज्ञान है। यह अवधिज्ञान देव व नारकी जीवों को जन्म से ही होता है।

भवविपाकी कर्म-जिन कर्मों का विपाक या फल मनुष्य आदि भव के रूप में होता है वे भव-विपाकी कर्म कहलाते हैं। नरकायु, तिर्यचायु,

मनुष्यायु ओर दवायु—य चारा आयु-कर्म भवविपाकी हे ।

भव्य—जिसकं सम्पदर्शन आदि भाव प्रकट हान की योग्यता हे वह भव्य हे । भव्य जीव तीन प्रकार के हे—आसन्न भव्य, दूर भव्य ओर अभव्यसम भव्य । जो अल्पकाल मे मुक्त होंगे, वे आसन्न-भव्य हे । जो बहुत काल मे मुक्त होंगे, वे दूर-भव्य हे । मुक्त होने की योग्यता होने पर भी जो कभी मुक्त नहों होंगे, वे दूरान्दूर-भव्य या अभव्यसम-भव्य हे ।

भाव—१ जीव के परिणाम को भाव कहते हे । ओपशमिक, क्षायिक, मिश्र, ओदयिक ओर पारिणामिक—ये पाच भाव जीव के हे । २ जो ओपशमिक आदि भावों के द्वारा जीवादि का विशेष ज्ञान किया जाता हे वह भाव-अनुयोग-द्वार हे ।

भाव-कर्म—जीव के क्रोध आदि विकारी परिणाम भाव-कर्म कहलाते हे ।

भाव-निक्षेप—वर्तमान पर्याय से युक्त द्रव्य को भाव-निक्षेप कहते हे । द्रव्य का वर्तमान पर्याय की अपेक्षा व्यवहार करना भाव-निक्षेप हे । जेसे—पूजा करते हुए को पुजारी कहना या सेवा करने वाले को सेवक कहना ।

भाव-परिवर्तन—योग-स्थान, अनुभाग-स्थान, कषाय-स्थान ओर स्थिति-स्थान इन चार के निमित्त से भाव-परिवर्तन होता हे । प्रकृति ओर प्रदेश-वध के कारणभूत आत्मा के प्रदेश परिस्पदन रूप योगस्थान होते हे । अनुभाग-वध मे कारणभूत कपाय की तरतमता (उतार चढाव) रूप अनुभाग-स्थान होते हे तथा स्थितिवध मे कारणभूत

कषाय की तरतमता को कषाय-स्थान कहते हैं। वधने वाले कर्म की स्थिति के भेदों को स्थिति-स्थान कहा गया है। योगस्थान श्रेणी के असख्यातवे भाग प्रमाण है। अनुभाग स्थान असख्यात लोक प्रमाण है और कषाय स्थान भी असख्यात लोकप्रमाण है। कोई मिथ्यादृष्टि, सज्जी, पचेन्द्रिय पर्याप्तक जीव ज्ञानावरणीय कर्म की अन्त कोडा-कोडी सागर प्रमाण जघन्य स्थिति को बाधता है। तब उस जीव के उस स्थिति के योग्य जघन्य कषाय-स्थान, जघन्य अनुभाग स्थान और जघन्य योगस्थान होता है। फिर स्थिति, अनुभाग और कषाय-स्थान वही रहते हैं किन्तु योगस्थान दूसरा हो जाता है। इसी प्रकार तीसरे, चौथे आदि योगस्थान होते हैं। जब सब योगस्थान पूर्ण हो जाते हैं तब उसी स्थिति ओर उसी कषाय-स्थान को धारण करने वाले जीव के दूसरा अनुभाग-स्थान होता है। इसमें योगस्थान पूर्ववत् होते हैं। इस प्रकार असख्यात लोक प्रमाण अनुभाग स्थानों के होने तक तीसरे चौथे आदि अनुभाग स्थान क्रमशः होते हैं। तात्पर्य यह है कि यहा स्थिति ओर कषाय स्थान तो जघन्य ही रहते हैं किन्तु अनुभाग स्थान क्रम से असख्यात लोक प्रमाण हो जाते हैं और एक-एक अनुभाग-स्थान के प्रति श्रेणी के असख्यातवे भाग प्रमाण योगस्थान होते हैं। इसके बाद उसी स्थिति को प्राप्त होने वाले जीव के दूसरा कषाय स्थान होता है। इसके अनुभाग-स्थान और योगस्थान पूर्ववत् रहते हैं। इस प्रकार असख्यात लोक प्रमाण कषाय स्थानों के होने तक तीसरे चौथे आदि कषाय स्थान जानना चाहिए। जिस प्रकार सबसे जघन्य स्थिति के कषाय आदि स्थान कहे हैं, उसी प्रकार एक समय अधिक जघन्य स्थिति के भी कषाय आदि स्थान जानना चाहिए और इसी प्रकार एक एक समय अधिक के क्रम से तीस

कोडा-कोडी सागर प्रमाण उल्कृष्ट स्थिति तक प्रत्येक स्थिति के भी कथाय आदि स्थान जानना चाहिए। इस प्रकार सभी मूल और उत्तर प्रकृतियों के परिवर्तन का क्रम जानना चाहिए। यह सब मिलकर एक भाव-परिवर्तन होता है। आशय यह है कि इस जीव ने मिथ्यात्म के वशीभूत होकर प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश-वध के कारणभूत जितने प्रकार के परिणाम या भाव हैं उन सबका अनुभव करते हुए भाव-परिवर्तन रूप ससार में अनेक बार श्रमण किया है।

भाव-पूजा—अर्हन्तादि के गुणों का चिन्तवन करना भाव-पूजा है।

भावलिंग—देखिए लिंग।

भाव-श्रुत—देखिए श्रुतज्ञान।

भाव-सत्य—हिसा आदि दोष रहित अयोग्य वचन भी भाव-सत्य है। जेसे—किसी ने पूछा कि ‘चोर देखा’ तो देखने के उपरात भी कह देना कि ‘नहीं देखा’।

भाव-सामायिक—सब जीवों के प्रति मेत्री-भाव रखना और अशुभ-भावों का त्याग करना भाव-सामायिक है।

भाव-स्तव—जिनेन्द्र शगवान के गुणों का स्मरण करना भाव-स्तव है।

भावानुराग—धर्मात्मा और धर्म का सम्मान/गौरव कम न हो ऐसी भावना होना भावानुराग कहलाता है।

भावेन्द्रिय—जो लब्धि और उपयोग रूप है वह भावेन्द्रिय है। जिसके ससर्ग से आत्मा द्रव्येन्द्रिय की रचना करने के लिए तत्पर होता है ऐसे ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम को लब्धि कहते हैं तथा लब्धि

के अवलम्बन से उत्पन्न होने वाले आत्मा के परिणाम को उपयोग कहते हैं।

भाषा-समिति-हित, मित और प्रिय वचन बोलना भाषा-समिति है।
यह साधु का एक मूलगुण है।

भूमि-स्पर्श—यदि आहार के समय साधु के हाथ से भूमि का स्पर्श हो जाए तो यह भूमि-स्पर्श नाम का अन्तराय है।

भेदविज्ञान—शरीर आदि 'पर' द्रव्यों से आत्मा भिन्न है—ऐसा अनुभव या ज्ञान होना भेद-विज्ञान है।

भोग—जो वस्तु एक ही बार भोगने में आती है उसे भोग कहते हैं।
जैसे अन्न, पान, गध, माला आदि।

भोग-भूमि—जहा कृषि आदि कार्य किये बिना दस प्रकार के कल्पवृक्षों से प्राप्त भोग-उपभोग की सामग्री के द्वारा मनुष्यों की उपजीविका चलती है उसे भोगभूमि कहते हैं। भोगभूमि में नगर, कुल, वर्णाश्रम आदि की पद्धति नहीं होती। यहा युगल सत्तान उत्पन्न होती है जो पति-पत्नी के रूप में सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करती है। यहाँ उत्पन्न होने वाले मनुष्य और तिर्यक सुखी, निरोगी और मृदु स्वभावी होते हैं और मरणोपरान्त स्वर्ग जाते हैं।

भोगान्तराय—जिस कर्म के उदय से जीव भोगने की इच्छा करता हुआ भी नहीं भोग पाता उसे भोगान्तराय कर्म कहते हैं।

भोगोपभोग-परिमाण—प्रतिदिन भोजन, वस्त्र आदि भोग-उपभोग की सामग्री का परिमाण करके शेष का स्थाग कर देना भोगोपभोग-परिमाण व्रत कहलाता है।

भोजन-सपात-साधु को आहार देते समय दाता के हाथ से यदि आहार सामग्री नीचे गिर जाए तो यह भोजन-सताप नाम का अत्तराय है।

भौम-निमित्त-पृथिवी की सधनता, स्निग्धता आदि गुणों का विचार करके जो तावा, सोना, चादी आदि धातुओं की हानि-वृद्धि का ज्ञान होता है वह भौम-निमित्त-ज्ञान कहलाता है।

भ्रमराहार-जिस प्रकार भोरा, फूलों को बाधा पहुचाए विना रस ग्रहण करता है उसी प्रकार साधु, दाता को बाधा पहुचाए विना उसके द्वारा दिया गया आहार ग्रहण करते हैं, इसलिए साधु की यह आहार-चर्या भ्रमराहार या भ्रामरीवृत्ति कहलाती है।

म

मङ्गल—जो पापरूपी मल को गलाता है अथवा जो सुख या पुण्य को लाने वाला है वह मङ्गल कहलाता है। अर्हन्त आदि का गुणगान करना पारलौकिक मगल है। पीली सरसो, पूर्णकलश आदि लौकिक मगल है। कार्य की निर्विघ्न समाप्ति के लिए, इच्छित फल की प्राप्ति के लिए, शिष्टाचार कं पालन के लिए और पुण्य-वर्धन के लिए ग्रथ के प्रारभ में मगल करने का विधान है। ग्रथ के प्रारभ में मगल दो प्रकार से किया जाता है—निवद्ध मगल और अनिवद्ध मगल।

मज्जानुराग—साधर्मी जनों के प्रति ऐसा सुदृढ अनुराग होना जो विषयति या विषय परिस्थिति आने पर भी परस्पर अस्थि व मज्जा के समान न छूटे अर्थात् बना रहे, इसे भज्जानुराग कहते हैं।

मतिज्ञान—इन्द्रिय व मन की सहायता से होने वाला ज्ञान मतिज्ञान है। अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा—मतिज्ञान के भेद हैं और मति, स्मृति, सज्जा, चित्ता, अभिनिवोध, प्रतिभा, बुद्धि, मेधा आदि इसके अपर नाम हैं।

मद—ज्ञान आदि के आश्रय से अपना वडप्पन जताना मद कहलाता है। यह आठ प्रकार का है—ज्ञान-मद, पूजा-मद, कुल-मद, जाति-मद, बल-मद, रूप-मद, तप-मद और ऋद्धि-मद।

मधुसावी ऋद्धि—जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु के हाथ में दिया गया सूखा-सूखा आहार भी मीठे स्वाद वाला हो जाता है उस मधुसावी-ऋद्धि कहते हैं।

मध्य-लोक—समूचा लोक तीन भागों में विभक्त है। इसके मध्य-भाग को मध्य-लोक कहते हैं। मध्य-लोक एक राजू चौड़ा और एक लाख योजन ऊचा है। यह चूड़ी के आकार का है। इसमें अनगिनत द्वीप और समुद्र हैं जो परस्पर एक दूसरे से धिरे हुए हैं। मध्यलोक के बीचों-बीच एक लाख योजन अर्थात् चालीस करोड़ मील व्यास वाला प्रथम जम्बूद्वीप स्थित है। जम्बूद्वीप को धेरे हुए दो लाख योजन विस्तार वाला लवण समुद्र है। फिर धातकीखण्ड द्वीप, कालोदधि समुद्र, पुष्करवर द्वीप और अत मे स्वयंभूरमण द्वीप और स्वयंभूरमण समुद्र हैं। मनुष्य और तिर्यच जीव इस मध्यलोक मे ही पाए जाते हैं।

मन—नाना प्रकार के विकल्प-जाल को मन कहते हैं। अथवा गुण दोष का विचार व स्मरण आदि करना, यह मन का कार्य है। मन को अनिन्द्रिय या अन्त करण भी कहते हैं। मन दो प्रकार का है—द्रव्य-मन और भाव-मन। हृदय मे आठ पाखुरी वाले कमल के आकार की पुढ़गल सरचना रूप द्रव्य-मन है तथा जिसके द्वारा सृति, शिक्षा, आलाप आदि का ग्रहण होता है वह भाव-मन है।

मन-शुद्धि—आहारदान देते समय ईर्ष्या, क्रोध आदि अशुभ-भावो से दूर रहना और श्रद्धा, विनय आदि शुभ-भाव रखना यह दाता की मन-शुद्धि है।

मन-पर्यय—जो दूसरे के मन का आत्मवन लेकर उस मन मे स्थित पदार्थ को स्पष्ट रूप से जान लेता है वह मन पर्यय ज्ञान कहलाता है। मन पर्यय ज्ञान ऋद्धिधारी मुनि को ही होता है। यह दो प्रकार का है—ऋजुमति और विपुलमति।

मनोगुप्ति—राग-द्वेष-मोह आदि अशुभ-भावों का परिहार करना
मनोगुप्ति है।

मनोज्ञ—1 अभिरूप को मनोज्ञ कहते हैं। 2 लोक-सम्मत साधु को
मनोज्ञ कहते हैं। 3 विद्वान्, वाग्मी, महाकुलीन आदिरूप से जो
लोकप्रसिद्ध है उसे मनोज्ञ कहते हैं। 4 सस्कारवान् सम्यग्दृष्टि को
मनोज्ञ कहते हैं।

मनोबल-ऋद्धि—जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु अन्तर्भुक्ति में समस्त
श्रुत का विन्तन करने में समर्थ होता है उसे मनोबल-ऋद्धि कहते हैं।

मन्त्र—1 जिसके द्वारा आत्मा का आदेश अर्थात् निजानुभव किया
जाए वह मत्र है। 2 जिसके द्वारा परमपद में स्थित आत्माओं का
सल्कार किया जाए वह मत्र है। 3 जो गुप्त रूप से बोले जाते हैं
उन्हे मत्र कहते हैं।

मंत्रोत्पादन-दोष—दाता को मत्र की महिमा बताकर और मत्र देने की
आशा दिलाकर यदि साधु आहार प्राप्त करे तो यह मंत्रोत्पादन-दोष है।

ममकार—आत्मा से भिन्न शरीर आदि में मेरेपन का भाव या ममत्व
भाव होना ममकार है।

मरण—प्राणों का वियोग होना मरण कहलाता है। जीव का मरण अनेक
प्रकार से होता है। जीव के आयु आदि प्राणों का जो निरतर क्षय
होता रहता है वह नित्य-मरण या आवीचि-मरण है। विष आदि के
निमित्त से अकाल में होने वाले मरण को अपवर्त्ययु-मरण या
कदलीधात-मरण कहते हैं। पूर्ण आयु भोगकर होने वाला मरण

अनपवत्यु-मरण कहलाता है। मरण के मुख्य पाच भेद और भी है—पण्डित-पण्डित-मरण, पण्डित-मरण, वाल-पण्डित-मरण, वाल-मरण और वाल-वाल-मरण।

मरण-भय—‘मैं जीवित रहूँ, कभी मेरा मरण न हों’, इस प्रकार मरण के विषय में जो भय होता है वह मरण-भय है।

मल-परीपह-जय—जीवन पर्यन्त स्नान न करने की प्रतिज्ञा करने वाले निर्गथ साधु के शरीर पर पसीना और धूलि के कारण स्वाभाविक रूप से जो मैल जमा हो जाता है उस सचित मैल से उत्पन्न होने वाली वाधा को समता-भाव से सहन करना मल-परीपह-जय है।

मल-दोष—शका काक्षा आदि दोषों से क्षयोपशम-सम्यग्दर्शन मलिन हो जाता है यह सम्यग्दर्शन का मल-दाष कहलाता है।

मलोषधि-ऋद्धि—जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु के जिहा, ओठ, नाक, आदि का मल जीवों के रोग दूर करने में समर्थ होता है वह मलोषधि-ऋद्धि है।

मल्लिनाथ—उन्नीसवें तीर्थकर। ये इक्ष्वाकुवशी राजा कुभ की रानी प्रजावती के पुत्र थे। इनकी आयु पचपन हजार वर्ष और शरीर पच्चीस धनुष ऊचा था। देह की कान्ति स्वर्ण के समान थी। अपने विवाह के लिए सजाए गये नगर को देखकर इन्हे अपने पूर्व भव का स्मरण हो गया और इन्होने विरक्त होकर जिनदीक्षा ले ली। ४ दिन की तपस्या के उपरात इन्हे केवलज्ञान हुआ। इनके सघ में अट्टाईस गणधर, चालीस हजार मुनिराज, पचपन हजार आर्यिकाएं, एक लाख श्रावक और तीन लाख श्राविकाएं थीं। सम्प्रदशिखर से इन्होने मोक्ष

प्राप्त किया ।

महाकल्प—काल और सहनन की अपेक्षा साधु के योग्य द्रव्य, क्षेत्र आदि का वर्णन करने वाला महाकल्प या महाकल्प नाम का अङ्गबाह्य है ।

महापुण्डरीक—जिसमे समस्त इन्द्र और प्रतीन्द्रो मे उत्पन्न होने मे कारणभूत तपश्चरण आदि का वर्णन किया गया हो वह महापुण्डरीक नाम का अङ्गबाह्य है ।

महापुरुष—1 जो पीडित किए जाने पर भी कठोर वचन या अपशब्द नहीं बोलते वह महापुरुष है । 2 जैनागम मे चौबीस तीर्थकर, नौ प्रतिनारायण, नौ वलभद्र, वारह चक्रवर्ती, चौबीस' कामदेव, चौदह कुलकर, ग्यारह रुद्र, नौ नारद और तीर्थकर के माता-पिता—ये एक सौ उन्हतर महापुरुष कहे गए हैं ।

महावीर-स्वामी—अंतिम चौबीसवे तीर्थकर । ये वैशाली के राजा सिद्धार्थ की रानी प्रियकारिणी (त्रिशला) के पुत्र थे । इनकी आयु बहत्तर वर्ष की थी और शरीर सात हाथ ऊचा था । निरतर बढ़ने वाले गुणों के कारण ये वर्धमान कहलाते थे । सगम देव ने जब इन पर उपसर्ग किया तब इनकी निर्भयता देखकर इन्हे महावीर कहा । तीव्र तपश्चरण करने से ये लोक मे अतिवीर कहलाये । सजय-विजय नाम के ऋद्धिधारी मुनियों को इनके टर्शन से समाधान मिला इसलिए इन्हे सन्मति नाम दिया गया । शरीर का अनन्त बल देखकर इन्हे 'वीर' कहा गया । तीस वर्ष की अवस्था मे इन्होने जिनदीक्षा ग्रहण की । वारह वर्ष की तपस्या के उपरात इन्हे केवलज्ञान हुआ । गणधर

के अभाव में छ्यासठ दिन तक डनकी टिव्याध्वनि नहीं हुई। इन्द्रभूति गौतम के आने पर और शिष्यत्व स्वीकार करने पर टिव्याध्वनि प्रारम्भ हुई। इनके सघ में इन्द्रभूति गौतम आदि ग्यारह गणधर, चोदह हजार मुनि, छत्तीस हजार आर्यिकाएं, एक लाख श्रावक व तीन लाख श्राविकाएं थीं। इन्होंने पावापुर से मोक्ष प्राप्त किया।

महाव्रत—हिसादि पाच पापो का मन, वचन, काय से जीवन-पर्यंत के लिए त्याग करना महाव्रत है। अहिंसा, सत्य, अचोर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाच महाव्रत हैं।

महिमा-ऋद्धि—जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु अपने शरीर को मेरुपर्वत के बराबर बनाने में समर्थ होते हैं वह महिमा-ऋद्धि है।

मासादि-दर्शन—आहार के समय यदि साधु को मासादि दिख जाए तो यह मासादि-दर्शन नाम का अतराय है।

माध्यस्थ-भाव—रागद्वेषपूर्वक पक्षपात नहीं करना माध्यस्थ-भाव है। माध्यस्थ, समता, उपेक्षा, वैराग्य, साम्य, वीतरागता ये सभी एकार्यवाची शब्द हैं।

मान—1 दूसरे के प्रति नमने की वृत्ति न होना मान है। अथवा दूसरे के प्रति तिरस्कार रूप भाव होना मान कहलाता है। 2 मान का अर्थ तौल या माप भी है।

मानदोष—साधु यदि अभिमान प्रगट करके आहार लेता है तो यह मान नामक दोष है।

मानस-आहार-देवा को आहार की डच्छा हात ही कण्ठ से अमृत बर्गने लगता है। यह मानस-आहार कहलाता है।

मानसिक-विनय-धर्म-कार्य में मन लगाना तथा पाप कार्य के विचार से मन को चाना मानसिक-विनय है। अथवा पूज्य पुरुषों के प्रति आदर-भाव रखना मानसिक-विनय है।

मानस्तम्भ-तीर्थकरों के समवसरण में प्रवेश करने से पहले प्रत्येक दिशा में जो तीर्थकर के शरीर की ऊचाई से बाहर गुनी ऊची स्तम्भ के आकार की सुदर रचना होती है उसे मानस्तम्भ कहते हैं। चूंकि दूर से ही इसके दर्शन मात्र से मिथ्यादृष्टि जीव अभिमान से रहित हो जाते हैं अत इसका मानस्तम्भ नाम सार्थक है। सभी मानस्तम्भ मूल में बज्जटागे य युक्त होते हैं, पध्य-भाग में वृत्ताकार होते हैं और ऊपर चारों दिशाओं में चमर, घाटा आदि से विभूषित एक-एक जिन-प्रतिमा सं युक्त होते हैं। अकृत्रिम चंत्यालयों में भी इसी तरह मानस्तम्भ की रचना होती है।

मानुषोन्तर पर्वत-मध्यलोक में पुष्करवर दीप के बीचोबीच चृड़ी के समान गोंल आकार वाला मानुषोन्तर पर्वत है। यह अनादि-अनिधन है। इस पर्वत के बाहर मनुजों का गमन नहीं होता।

माया-माया का अर्थ छल, कपट या कुटिलता है। दूसरे का ठगने के लिए जो छल, कपट आदि किए जाते हैं वह माया है।

माया-क्रिया-ज्ञान-दर्शन आदि के विषय में छल करना माया-क्रिया है।

माया-दोष-साधु यदि छलपूर्वक आहार ले तो यह माया नाम का दोष है।

मायागता-चूलिका-जिसमें इन्द्रजाल आदि के कारणभूत मत्र और तपश्चरण का वर्णन किया गया है वह मायागता-चूलिका है।

माया-शल्य-यदि जीव बाह्य में वगुले जैसा उज्ज्वल वेष धारण करके अतरंग में दूषित भाव रखता है तो यह माया-शल्य कहलाती है।

मारणान्तिक-समुद्रधात-मरण के समय अपने वर्तमान शरीर को न छोड़कर आगे जहा उत्तम्न होना है उस क्षेत्र तक आत्मा के प्रदेशों का फैलना मारणान्तिक-समुद्रधात है।

मारुत-चारण ऋद्धि-जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु अनेक प्रकार की गतिवाली वायु की प्रदेश परिक्षित पर पैर रखते हुए निर्वाध रूप से गमन करने में समर्थ होते हैं वह मारुत-चारण ऋद्धि कहलाती है।

मारुती-धारणा-आग्नेयी-धारणा के उपरात वह योगी आकाश में पूर्ण होकर विचरण करते हुए महावेगवान वायुमङ्गल का चिन्तवन करे। इस प्रवल वायुमङ्गल ने अग्नि में जले शरीर आदि की भस्म को उड़ा दिया है और फिर वायु शात हो गई है—ऐसा चिन्तवन करे, यह मारुती-धारणा है।

मार्गणा-मार्गणा का अर्थ खोजना या अन्वेषण करना है। जीव जिन भावों के द्वारा खोजे जाते हैं या जिन पर्यायों में खोजे जाते हैं उसे मार्गणा कहते हैं। गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, सयम, दर्शन, लेश्या, भव्य, सम्प्रकृत्य, सङ्झी और आहारक—ये चोदह मार्गणा ए

हे।

मार्ग-प्रभावना-ज्ञान, ध्यान, तप और जिनपूजा आदि के माध्यम से जिनेन्द्र भगवान के द्वारा बताए गए मोक्षमार्ग को प्रकाशित करना मार्ग-प्रभावना हे। यह सोलह कारण भावना मे एक भावना है।

मार्ग-सम्यग्दर्शन-वीतराग-मोक्षमार्ग के सुनने मात्र से जो सम्यग्दर्शन होता है वह मार्ग-सम्यग्दर्शन है।

मार्दव-मृदुता का भाव होना मार्दव है। अथवा मान के अभाव का नाम मार्दव है। अथवा अपने कुल, ऋप, जाति, बुद्धि, तप आदि का अभिमान नहीं करना मार्दव-धर्म है।

मालारोहण-लकड़ी की बनी हुई सीढ़ी या पैड़ी से ऊपर चढ़कर वहा रखे हुए लड्डू आदि लाकर साधु को आहार मे देना मालारोहण नाम का दोष है।

मित्र-जो निस्वार्थ भाव से हित करे वह मित्र है अथवा जो पाप से बचाए वह मित्र है।

मिथ्या-एकान्त-अनेक धर्मात्मक वस्तु के किसी एक ही धर्म का कथन करके शेष सभी धर्मों का निषेध कर देना मिथ्या-एकात है।

मिथ्याचारित्र-अर्हन्त भगवान के द्वारा बताए गए वीतराग मोक्षमार्ग से विपरीत मार्ग पर चलना मिथ्याचारित्र है।

मिथ्याज्ञान-मिथ्यात्म के सद्भाव मे होने वाला ज्ञान, मिथ्याज्ञान कहलाता है। जिस प्रकार कडवी तूमडी मे रखा हुआ दूध कडवा हो जाता है उसी प्रकार मिथ्यादर्शन के निमित्त से मतिज्ञान आदि मिथ्या

जैनदर्शन पारिभाषिक कोश /

हा जाते हे । कुमति, कुश्रुत आर विभग-अवधिज्ञान ये तीनो मिथ्याज्ञान हे ।

मिथ्यात्व-क्रिया-मिथ्यात्व के उदय मे जो राग-द्वेष से मलिन देवी-देवताओ की स्तुति रूप क्रिया होती हे वह मिथ्यात्व-क्रिया है ।

मिथ्यादर्शन-मिथ्यात्व-कर्म के उदय से जो समीचीन तत्त्वो के विषय मे अश्रद्धान होता हे वह मिथ्यादर्शन है । अथवा अहन्त भगवान के द्वारा वताए गए मार्ग से विपरीत मार्ग मे श्रद्धान होना मिथ्यादर्शन है ।

मिथ्यादर्शन-क्रिया-मिथ्यादर्शन के साधनो से युक्त पुरुष की प्रशसा आदि करके उसे मिथ्यात्व मे दृढ़ करना मिथ्यादर्शन-क्रिया है ।

मिथ्यादृष्टि-मिथ्यात्व-कर्म के उदय से वशीकृत जीव मिथ्यादृष्टि कहलाता हे । अथवा जो दोषयुक्त देव को, हिसा से युक्त धर्म को ओर परिग्रह मे लिप्त गुरु को मानता हे ओर आदर-सल्कार करता हे वह मिथ्यादृष्टि है । अथवा जो निष्परिग्रह यथाजात निर्ग्रथ रूप का दख कर मात्सर्य करता हे वह मिथ्यादृष्टि है ।

मिथ्याशल्य-मिथ्यात्व मे रुचि रखते हुए व्रतो का पालन करना मिथ्याशल्य है ।

मिश्रगुणस्थान-दही और गुड के मिश्रित स्वाद के समान सम्यक्त्व और मिथ्यात्व से मिश्रित-भाव को सम्पर्गमिथ्यात्व कहते है । सम्पर्गमिथ्यात्व के उदय से जीव का तत्त्व के विषय मे श्रद्धान और अश्रद्धान-भाव युगपत् होता है इसलिए इसे मिश्रभाव या मिश्र गुणस्थान भी कहत हैं ।

मिश्रदोष—प्रासुक तेयार हुआ आहार अन्य वेपधारियों तथा गृहस्थों के साथ-साथ सयमी साधुओं को भी देने का सकल्प करना मिश्रदोष है।

मुनि—मनन मात्र भाव-स्वरूप होने से साधु को मुनि कहते हैं। अथवा अवधिज्ञानी, मन पर्ययज्ञानी और केवलज्ञानियों को मुनि कहा है। श्रमण, सयत, ऋषि, मुनि, यति, साधु, वीतराग, अनगार ये सभी एकार्थवाची शब्द हैं।

मुनिसुब्रतनाथ—बीसवे तीर्थकर। मगध देश के राजगृह नगर में राजा सुमित्र और माता सोमा के यहा इनका जन्म हुआ। इनकी आयु तीस हजार वर्ष थी और शरीर बीस धनुष ऊचा मयूरकठ के समान नीली आभा वाला था। पद्रह हजार वर्ष तक राज्य करने के उपरात यागहस्ती नामक हाथी को देशब्रतों का पालन करते देखकर इन्हे वेराग्य हो गया और गृहत्याग कर जिनदीक्षा ले ली। यारह माह की तपस्या के उपरात इन्हे केवलज्ञान प्राप्त हुआ। इनके सघ में अठारह गणधर, तीस हजार मुनि, पचास हजार आर्यिकाएं, एक लाख श्रावक और तीन लाख श्राविकाएं थीं। इन्होंने सम्प्रदशिखर से मोक्ष प्राप्त किया।

मुमुक्षु—मोक्ष की इच्छा रखने वाले भव्य जीवों को मुमुक्षु कहते हैं। यह तीन प्रकार के होते हैं—परोपकार को प्रधानता देकर अपना उपकार करने वाले, अपने उपकार की प्रधानता से परोपकार करने वाले और मात्र अपना उपकार करने वाले।

मुहूर्त—दो घड़ी अर्थात् अडतालीस मिनिट का एक मुहूर्त होता है।
मूक-केवली—केवलज्ञान के उपरात जिनकी दिव्यध्वनि नहीं होती वे

मूक-केवली कहलाते हैं।

मूढ़ता—मूढ़ता का अर्थ अविवेक है। यह तीन प्रकार की होती है—लोक-मूढ़ता, देव-मूढ़ता और गुरु-मूढ़ता या समय-मूढ़ता।

मूर्छा—लोक में मूर्छा का प्रचलित अर्थ बेहोशी है। जैनागम में मूर्छा का अर्थ परिग्रह या ममत्व-भाव है।

मूर्त—जो पदार्थ इन्द्रिय ग्राह्य है वे मूर्त हैं। अथवा जिसमें रूप रस आदि गुण पाए जाते हैं वह मूर्त है। छह द्रव्यों में एकमात्र पुदगल-द्रव्य मूर्त या रूपी है।

मूलकर्म-दोष—जो वश में नहीं है उनको कैसे वश में करना, अथवा जो स्त्री-पुरुष अलग-अलग हो गए हैं उनका कैसे संयोग कराना—ऐसे मत्र-तत्र आदि उपाय वताकर यदि साधु गृहस्थ से आहार प्राप्त करे तो यह मूल-कर्म-दोष है।

मूल-प्रायश्चित—साधु को पुन दीक्षा देना मूल-प्रायश्चित कहलाता है। अपरिमित दोष करने वाला जो साधु पाश्वस्थ, अवसन्न, कुशील या स्वच्छन्द होकर कुमार्ग में स्थित है उसे यह प्रायश्चित दिया जाता है।

मृगचारी—जो साधु अकेले ही स्वच्छन्द रीति से विहार आदि करते हैं और जिनेन्द्र भगवान के वचनों को दूषित करते हैं उनको मृगचारी या स्वच्छन्द कहा गया है।

मृषानन्दी—तीव्र कषाय कं वशीभूत होकर दूसरे को ठगने के लिए बड़ी चतुराई से झूठ बोलने की योजना बनाने में लगे रहना और झूठ

बोलने में आनन्द मानना मृषानन्दी नाम का रौद्रध्यान है।

मेघचारण ऋद्धि—जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु बादलों में स्थित जलकायिक जीवों की विराधना न करते हुए उनके ऊपर से जाने में समर्थ होते हैं, उसे मेघचारण-ऋद्धि कहते हैं।

मैत्री—दूसरे को दुख न हो ऐसी भावना रखना मैत्री है।

मैथुन-संज्ञा—राग के वशीभूत होकर स्त्री और पुरुष में जो परस्पर कामसेवन की इच्छा होती है उसे मैथुन-संज्ञा कहते हैं।

मोक्ष—समस्त कर्मों से रहित आत्मा की परम विशुद्ध अवस्था का नाम मोक्ष है। जब आत्मा कर्म मल कलक और शरीर को अपने से सर्वथा जुदा कर देता है तब उसके जो स्वाभाविक अनन्त ज्ञानादि गुण रूप और अव्याबाध सुख रूप अवस्था उत्पन्न होती है उसे मोक्ष कहते हैं।

मोक्षमार्ग—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र—इन तीनों की एकता ही मोक्षमार्ग है। निश्चय और व्यवहार के भेद से मोक्षमार्ग दो प्रकार का है। निश्चय-मोक्षमार्ग निर्विकल्प निजशुद्धात्म तत्त्व के सम्यक् श्रद्धान्, ज्ञान और अनुचरण रूप अभेद रलत्रयात्मक है तथा जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहे गए सात तत्त्वों के श्रद्धान् व ज्ञान तथा अहिसा आदि ग्रन्तों के पालन रूप भेदरलत्रयात्मक व्यवहार-मोक्षमार्ग है। व्यवहार मोक्षमार्ग को निश्चय-मोक्षमार्ग का साधन माना गया है क्योंकि कोई भी साधक पहले सविकल्प रहकर ही आगे निर्विकल्पता को प्राप्त करता है।

के समय जो विजली की चमक के समान क्षण भर को दिखाई देता है उस साधु के यह याचना-परीषह-जय है।

योग-मन, वचन और काय के द्वारा होने वाले आत्म-प्रदेशों के परिस्पन्दन को योग कहते हैं। अथवा मन, वचन, काय की प्रवृत्ति के लिए जीव का प्रयत्न विशेष ही योग कहलाता है। योग तीन प्रकार का है—मनो-योग, वचन-योग और काय-योग। ये तीनों योग शुभ व अशुभ दोनों रूप होते हैं।

योजन—चार कोस का एक योजन होता है। दो हजार कोस का एक महायोजन होता है। योजन का प्रयोग जीवों के शरीर, नगर, मंदिर आदि को मापने में होता है तथा महायोजन के द्वारा पर्वत, द्वीप, समुद्र आदि को मापते हैं।

योनि—जिसमें जीव जाकर उत्पन्न होता है उसे योनि कहते हैं। सचित्त, अचित्त, शीत, उष्ण, सवृत्, विवृत् आदि के भेद से योनि अनेक प्रकार की है। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि जाति के भेद से योनि के चौरासी लाख भेद हैं।

र

रति—जिस कर्म के उदय से जीव इन्द्रिय-विषयों में आसक्त होकर रमता है उसे रति कहते हैं। अथवा मनोहर वस्तुओं के प्रति अत्यत प्रीति होना रति है।

रत्नत्रय—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र—इन तीन गुणों को रत्नत्रय कहते हैं।

रसना—जिसके द्वारा स्वाद लिया जाता है अथवा जो स्वाद को ग्रहण करती है वह रसना या जिह्वा इन्द्रिय है।

रस-नामकर्म—1 जिस कर्म के उदय से जीवों के शरीर में खट्टा, मीठा आदि रस उत्पन्न होता है उसे रस-नामकर्म कहते हैं। तिक्त, मधुर, कटुक, कसायला और खट्टा—ये पाच रस हैं। 2 धी, दूध, दही—ये गोरस हैं। गुड़, शक्कर आदि इक्षुरस है। द्राक्षा, आम आदि फल-रस है। तेल, माड आदि को धान्य-रस माना गया है।

रस-परित्याग—भोजन में दूध, दही, धी, तेल, गुड और नमक इन छह रसों का या इनमें से किसी एक-दो रसों का त्याग करना रस-परित्याग नाम का तप है।

राग—इष्ट पदार्थों में प्रीति या हर्ष रूप परिणाम होना राग है। राग दो प्रकार का है—प्रशस्तराग और अप्रशस्तराग।

राजर्षि—जो साधु विक्रिया-ऋद्धि और अक्षीण-ऋद्धि के धारक होते हैं वे राजर्षि कहलाते हैं।

राजसिक-दान—जो दान कवल अपने यश और ख्याति के लिए किया गया हो, जो थोड़े समय के लिए सुदर ओर चकित करने वाला हो तथा दूसरे के द्वारा दिलाया गया हो वह राजसिक-दान है।

रात्रि-भूक्ति-त्याग-प्रतिमा—सचित्त-त्याग नामक पाचवीं प्रतिमा धारण करने के उपरात जीवन पर्यन्त के लिए मन, वचन, काय से रात्रि में अन्न, जल आदि चारो प्रकार के आहार का त्याग कर देना यह श्रावक की रात्रि-भूक्ति-त्याग नामक छठवीं प्रतिमा है।

रुद्र-जिनदीक्षा लेने के उपरात कर्म के तीव्र उदय से विषय-वासनावश सयम से भ्रष्ट होकर रोद्र-कार्य करने वाले रुद्र कहलाते हैं। ये दसवे विद्यानुप्रवाद नामक पूर्व का अध्ययन करते समय विषयासक्त होकर तप से भ्रष्ट हो जाते हैं और नरकगामी होते हैं। रुद्र ग्यारह हुए हैं।

रुधिर-अन्तराय—आहार करते समय यदि साधु को अपने शरीर से अथवा दूसर के शरीर से रक्त बहता हुआ दिख जाए तो यह रुधिर नाम का अन्तराय है।

रूपगता—जिसमें सिह, घोड़ा, हरिण आदि की आकृति धारण करने के कारणभूत मत्र, तत्र एव तपश्चरण का तथा चित्र, काष्ठ, लेप्य और लयनकर्म के लक्षण का वर्णन किया गया है उसे रूपगता-चूलिका कहते हैं।

रूप-सत्य—पदार्थ के अभाव में मात्र रूप की अपेक्षा उसका कथन करना जेसं—चित्र में वन पुरुष की पुरुष कहना रूप-सत्य है।

रूपस्थ-ध्यान—समवसरण के मध्य में स्थित अनन्त चतुष्पद्य स

समन्वित अर्हन्त भगवान का जो ध्यान किया जाता है उसे रूपस्थ-ध्यान कहते हैं।

रूपातीत-ध्यान-रूपस्थ-ध्यान में निष्णात योगी के द्वारा जो सिद्ध परमेष्ठी का या शुद्ध आत्मा का ध्यान किया जाता है वह रूपातीत ध्यान है।

रोग-परीषह-जय-शरीर में एक साथ अनेक रोग हो जाने पर भी जो साधु उपचार की इच्छा नहीं करते और रोगजन्य पीड़ा को समता-पूर्वक सहन करते हैं उनके यह रोग-परीषह-जय हैं।

रोधन-अन्तराय-आहार-चर्या के समय यदि साधु को किसी के द्वारा आहार का निषेध किया जाता है तो यह रोधन नाम का अतराय होता है।

रौद्रध्यान-रुद्र का अर्थ क्रूर आशय है। क्रूर आशय से किया गया कर्म रौद्र है। हिसा करने में आनन्द मानना, झूठ बोलने में आनन्द मानना, चोरी करने और परिग्रह जोड़ने में आनन्द मानना रौद्रध्यान है। रौद्रध्यान चार प्रकार का है—हिसानदी, मृषानदी, चौर्यानदी और परिग्रहानदी।

ल

लक्षण—जिसके द्वारा परस्पर सम्मिलित वस्तुओं में से किसी वस्तु विशेष का प्रथक्करण हो वह उसका लक्षण कहलाता है। वह गुण या चिन्ह जिसके द्वारा वस्तु की अलग पहचान होती है, लक्षण कहलाता है। लक्षण, धर्म, गुण, स्वभाव व प्रकृति—ये सभी एकार्थवाची हैं। लक्षण के दो भेद हैं—आत्मभूत लक्षण और अनात्मभूत लक्षण।

लक्षण-निमित्तज्ञान—हाथ, पैर व माथे की रेखाएँ और अन्य चिह्न देखकर दुख-सुख आदि जान लेना लक्षण-निमित्त-ज्ञान हैं।

लघिमा-ऋद्धि—जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु अपने शरीर को वायु से भी हल्का बनाने में समर्थ होते हैं वह लघिमा-ऋद्धि है।

लब्धि—1 तप विशेष से प्राप्त होने वाली ऋद्धि को लब्धि कहते हैं। 2 जिसके सर्सर्ग से आत्मा द्रव्येन्द्रिय की रचना करने के लिए तत्पर होता है ऐसे ज्ञानावरण के क्षयोपशम विशेष को लब्धि कहते हैं। 3 घातिया कर्म के क्षय से अर्हन्त भगवान के क्षायिक दान, लाभ, थोग, उपभोग, वीर्य, सम्यक्त्व, दर्शन, ज्ञान और चारित्र—ये नव केवल लब्धिया होती हैं। 4 उपशम सम्यक्त्व सबधी लब्धिया पाच है—क्षयोपशम-लब्धि, विशुद्धि-लब्धि, देशना-लब्धि, प्रायोग्य-लब्धि और करण-लब्धि। प्रथम चार लब्धिया भव्य-अभव्य दोनों के होती हैं किन्तु करण-लब्धि भव्य-जीव को ही होती है।

लब्ध्यपर्याप्तक—अपर्याप्तक-नामकर्म के उदय से जो जीव अपने योग्य

काय की प्रवृत्ति को भाव-न्तेश्या कहते हैं।

लेख्य—रवडी, मलाई आदि जो आहार चाटकर खाया जाता है उसे लेख्य कहते हैं।

लोक—1 जिसमें जीव आदि छह द्रव्य पाये जाते हैं उसे लोक अथवा लोकाकाश कहते हैं। उससे बाहर सर्वत्र अनन्त अलोकाकाश है।

लोकविदुसार—जिसमें आठ व्यवहार, चार बीज-राशि, परिकर्म आदि गणित और समस्त श्रुत सम्पदा का वर्णन है वह लोकविदुसार नामक चौदहवा पूर्व है।

लोकमूढ़ता—अधिविश्वास से प्रेरित होकर प्रयोजन का विचार किए विना लोकिक कार्य करना लोकमूढ़ता है। जैसे—नदी या समुद्र आदि में स्नान करना, वालू व पत्थरों का ढेर लगाना, पर्वत से गिरना तथा अग्नि में जलना आदि कार्यों को धर्म समझकर करना लोकमूढ़ता है।

लोकानुप्रेक्षा—‘अनन्त अलोकाकाश के मध्य में पुरुषाकार लोक स्थित है। जीव आदि छह द्रव्यों से यह लोक बना है, उसे न किसी ने बनाया है, न कोई इसे धारण किए हैं और न ही कोई इसे मिटाने वाला है, यह लोक अनादि-अनन्त है’—इस प्रकार लोक के स्वरूप का बार-बार चिन्तवन करना लोकानुप्रेक्षा है।

लोभ—धन पेसा आदि की तीव्र लालसा या गृद्धि होना लोभ है। अथवा पर पदार्थों में ‘यह मेरा है’—इस प्रकार की राग रूप वुद्धि होना लोभ है। लोभ चार प्रकार का है—जीवन-लोभ, आरोग्य-लोभ, इन्द्रिय-लोभ और उपभोग-लोभ।

लोभ-दोष—यदि साधु लोभ प्रगट करके आहार प्राप्त करे तो यह लोभ

नाम का दोष हे ।

लौकान्तिक-1 ब्रह्मलोक नामक पाचवे स्वर्ग के अत मे जिनका निवास है वे लौकान्तिक कहलाते हे । 2 लोक का अर्थ ससार हे, अत जिनके ससार का अत निकट हे वे लौकान्तिक हे । लौकान्तिक देव एक भवावतारी होते है अर्थात् मरणोपरात एक मनुष्य भव पाकर मुक्त हो जाते हे । भोग-विलास से विरक्त होने के कारण ये देवर्षि कहलाते हे । ये चोदह पूर्व के ज्ञाता है ओर मात्र दीक्षा-कल्पाणक के अवसर पर तीर्थकरो के वेराग्य की प्रशसा करने मध्यलोक मे आते है ।

व

वक्ता-शास्त्र के उपदेश-कर्ता को वक्ता कहते हैं। अथवा जिनमें ध्वनि या वाणी रूप बोलने की क्षमता प्रगट हो जाती है ऐसे द्वीन्द्रिय से लेकर सज्जी-पचेन्द्रिय तक सभी जीव वक्ता हैं। मोक्षमार्ग में तीन ही वक्ता हे—सर्वज्ञ तीर्थकर या सामान्य केवली भगवान्, श्रुतकेवली महाराज और परपरा-आचार्य।

वचन-गुप्ति—पाप रूप असत्य वचनों का त्याग करना या मौन धारण करना वचन-गुप्ति है।

वचन-शुद्धि—पीड़ादायक, कठोर या असम्भ्य-वचन नहीं बोलना तथा हित मित और मधुर-वचन बोलना वचनशुद्धि है।

वचन-बल-ऋद्धि—जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु एक मुहूर्त मात्र काल के भीतर सपूर्ण श्रुत को सहज शुद्ध रूप से उच्चारण करने में समर्थ होते हैं उसे वचन-बल-ऋद्धि कहते हैं।

वज्र-ऋषभ-नाराच-सहनन—जिस कर्म के उदय से शरीर में वज्र के समान अभेद्य हड्डियों के ऊपर वज्र का ही वेष्ठन होता है और हड्डिया परस्पर वज्रमय नाराच अर्थात् कील से जुड़ी होती है ऐसा हड्डियों का सुदृढ़ बधन वज्र-ऋषभ-नाराच-सहनन कहलाता है।

वज्रनाराच-सहनन—जिस कर्म के उदय से शरीर में वज्रमय हड्डिया दोनों ओर वज्रमय नाराच अर्थात् कील से जुड़ी होती है उसे वज्रनाराच-सहनन कहते हैं।

वध-परीषह-जय-तीक्ष्ण अस्त्र-शस्त्र आदि के द्वारा घात किये जाने पर मारने वाले के प्रति जो साधु लेशमात्र भी आक्रोश नहीं करते और इसे अपने पूर्वकृत कर्म का फल मानकर समता-पूर्वक सहन करते हैं उनके यह वध-परीषह-जय है ।

वनस्पति-काय-वनस्पतिकायिक जीव के द्वारा छोड़ा गया शरीर अर्थात् निर्जीव वनस्पति को वनस्पति-काय कहते हैं ।

वनस्पतिकायिक-वनस्पति ही जिसका शरीर है उसे वनस्पतिकायिक कहते हैं । वनस्पतिकायिक जीव दो प्रकार के हैं—साधारण-वनस्पति और प्रत्येक वनस्पति ।

वनस्पति-जीव-जो जीव वनस्पतिकायिक में उत्पन्न होने के लिए विग्रहगति में जा रहा है उसे वनस्पति-जीव कहते हैं ।

वनीपक-दोष-कुत्ता, कौवा या पाखण्डी साधु आदि को दान देने से पुण्य होता है—ऐसा दाता के अनुकूल वचन बोलकर यदि साधु आहार ग्रहण करे तो यह वनीपक नाम का दोष है ।

वन्दना-1 एक तीर्थकर की स्तुति करना वन्दना कहलाती है । 2 जिसमें एक तीर्थकर सबधी और उन तीर्थकर के अवलम्बन से जिनालय सबधी वन्दना का वर्णन है वह वन्दना नाम का अङ्गवाह्य है ।

वर्ग-सबसे जघन्य गुण वाले प्रदेश के अविभागी प्रतिच्छेदों के समूह को वर्ग कहते हैं ।

वर्गणा-वर्गों के समूह को वर्गणा कहते हैं अथवा समान गुण वाले परमाणु-पिण्ड को वर्गणा कहते हैं ।

वर्णनामकर्म—जिसके उदय से शरीर में श्वेत आदि वर्ण अर्थात् रंग की उत्पत्ति होती है उसे वर्णनामकर्म कहते हैं। वर्ण पाच प्रकार के हैं—श्वेत, पीत, रक्त, नील और कृष्ण वर्ण।

वर्तना-द्रव्य में प्रति समय होने वाले परिवर्तन में जो सहकारी है उस वर्तना कहते हैं। यह काल-द्रव्य का उपकार है।

वषट्-पूजा करते समय वषट् पद के द्वारा भगवान को अपने निकट स्थापित किया जाता है। यह एक वीज-पद है।

वशित्व-ऋद्धि—जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु जीवसमूह को वश में करके उनका मनचाहा आकार आदि बनाने में सक्षम होते हैं वह वशित्व-ऋद्धि कहलाती है।

वस्तिका-साधुओं के ठहरने का स्थान वस्तिका कहलाता है। ध्यान-अध्ययन के योग्य निर्दोष वस्तिका में ही साधु ठहरते हैं।

वस्तुत्व-वस्तु के भाव को वस्तुत्व कहते हैं। वस्तु सामान्य-विशेषात्मक होती है और प्रत्येक वस्तु में अर्थ क्रियाकारीपना पाया जाता है।

वाचना-निर्दोष ग्रन्थ, ग्रन्थ का अर्थ या दोनों ही योग्य-पात्र को प्रदान करना वाचना है। अथवा शिष्यों को पढ़ाने का नाम वाचना है। वाचना चार प्रकार की है—नन्दा, जया, भद्रा और सौम्या-वाचना।

वाचिक-विनय-पूज्य वचनों से बोलना, हित रूप बोलना, थोड़ा बोलना, मिष्ट बोलना, आगम के अनुसार बोलना, कठोरता-रहित बोलना तथा अभिमान रहित वचन बोलना वाचिक-विनय है।

वातवलय-वृक्ष की त्वचा के समान समस्त लोक को धेरे हुए तीन

वातवलय है। सघन-वायु का वलय घनवातवलय कहलाता है, जलमिश्रित वायु का वलय घनोदधि के नाम से जाना जाता है तथा विरल वायु का वलय तनुवातवलय कहलाता है। सबसे पहले घनोदधि वातवलय लोक का आधार है, उसे धेरे हुए घनवातवलय और उसके उपरात तनुवातवलय है। इस तरह समूचा लोक तीन वातवलयों से घिरा है ओर अलोकाकाश के मध्य स्थित है।

वात्सल्य-मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका रूप साधर्मी जनों से गाय-घण्डे के समान स्वाभाविक स्नेह रखना सम्यग्दृष्टि का वात्सल्यगुण है।

वादित्य-ऋद्धि-जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु, इन्द्र के समान ज्ञानवान् और वाद-विवाद करने में निपुण वाटी को भी युक्तियुक्त समाधान के द्वारा निरुत्तर करने में समर्थ है उसे वादित्य-ऋद्धि कहते हैं।

वामन-सम्मान-जिस कर्म के उदय से जीव का बोना शरीर होता है वह वामन-सम्मान है।

वायु-काय-वायुकायिक जीवों से रहित वायु को वायुकाय कहते हैं।

वायुकायिक-वायु हीं जिसका शरीर है उसे वायुकायिक जीव कहते हैं।

वायुजीव-जों जीव वायुकायिक में उत्पन्न होने के लिए विग्रह गति म जा रहा है उसे वायु-जीव कहते हैं।

वारुणी-धारणा-मारुती-धारणा के उपरात वह योगी इन्द्रधनुष, विजली, गर्जनादि सहित मध्यों से भर हुए आकाश का चितन कर फिर

उन मेघों को बड़ी-बड़ी बूदों में निरतर बरसते हुए चित्तन करे। इस बरसते हुए जल से जो आग्नेयी-धारणा में शरीर के जलने से भस्म उत्पन्न हुई थी उस भस्म का प्रक्षालन करता हुआ चिन्तन करे यह वारुणी-धारणा है।

वासुपूज्य—बारहवे तीर्थकर। चम्पापुरी के राजा वसुपूज्य और रानी जयावती के यहा जन्म हुआ। इनकी आयु बहत्तर लाख वर्ष थी और शरीर सत्तर धनुष ऊचा था। शरीर की आभा कुकुम के समान लाल थी। कुमार काल के अट्ठारह लाख वर्ष बीत जाने पर ससार से विरक्त होकर जिनदीक्षा ग्रहण कर ली। एक वर्ष की कठिन तपस्या के फलस्वरूप इन्हे केवलज्ञान हुआ। इनके सघ में छियासठ गणधर, बहत्तर हजार मुनि, एक लाख छह हजार आर्यिकाएं, दो लाख श्रावक और चार लाख श्राविकाएं थीं। इनके पांचों कल्याणक चम्पापुरी में हुए।

विकथा—धर्म-कथा से रहित मात्र अर्थ और काम-कथा करना विकथा कहलाती है। पापास्व मे कारणभूत चार प्रकार की विकथा प्रसिद्ध है—स्त्री-कथा, राज-कथा, चौर-कथा और भोजन-कथा।

विकलेन्द्रिय—दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय और चार इन्द्रिय जीवों को विकलेन्द्रिय या विकलत्रय कहते हैं।

विकल्प—1 ‘मैं सुखी हूँ या मैं दुखी हूँ’—इस प्रकार जो अतरण मे हर्ष-विषाद रूप भाव होता है उसे विकल्प कहते हैं। 2 पदार्थ का प्रतिभास विकल्प कहलाता है या योग के परिवर्तन को विकल्प कहते हैं जैसे—‘यह घड़ा हे या यह वस्त्र है’ इस प्रकार एक के बाद एक

पदार्थ कों जानने सूप विकल्प होता रहता है।

विक्रिया—छोटा, बड़ा, हल्का, भारी आदि अनेक प्रकार का शरीर बना लेना विक्रिया कहलाती है। यह दो प्रकार की है—पृथक्-विक्रिया और अप्रथक् या एकत्व-विक्रिया। देव व नारकी जीवों को, तेजस्कायिक, वायुकायिक जीवों को तथा साधु को विक्रिया करने की सामर्थ्य प्राप्त होती है।

विक्षेपणी-कथा—मिथ्या-भत्तो का निराकरण या शोधन करने वाली विक्षेपणी-कथा है।

विग्रहगति—विग्रह का अर्थ शरीर है। पूर्वभव के शरीर को छोड़कर दूसरे नवाँन शरीर को ग्रहण करने के लिए जीव जो गमन करता है उसे विग्रहगति कहते हैं। यह दो प्रकार की होती है—मोड़वाली गति और विना मोड़े वाली गति।

विजयाद्व पर्वत—यह एक रमणीय पर्वत है। इस पर विद्याधरों का निवास है। यह पच्चीस योजन ऊचा, पचास योजन चोड़ा और सवा सह योजन गहरा है। इसका रग चादी के समान है। जम्बूद्वीप में विदेह मन्द्यन्धी वर्तीस तथा भरत और ऐरावत क्षेत्र सम्बन्धी एक-एक ऐसे चोरीभ विजयाद्व पर्वत है। यहा कर्मभूमि के योग्य पट्टकर्म होते हैं। विद्यापता यह है कि यह विद्याधर-मनुष्यों को जन्म से प्राप्त विद्याएँ इच्छानुभार फल देती है और सदा चौथा काल रहता है। चक्रवर्ती जै विजय-रूप को आधी नीमा इसी पर्वत के ढारा निर्धारित होती है। इस विजयाद्व-पर्वत रखा गया है।

विजिगीषु-कथा—वादी और प्रतिवादी में अपने पक्ष को स्थापित करने के लिए हार्त-जीत होने तक जो परस्पर चर्चा होती है उसे विजिगीषु-कथा कहते हैं।

विडोषधि-ऋद्धि—जिसके प्रभाव से साधु का मल-मूत्र भी जीवों के रोगों को नष्ट करने में समर्थ होता है उसे विडोषधि ऋद्धि कहते हैं।

विदारण-क्रिया—दूसरे के पापकर्म को प्रकाशित करना विदारण-क्रिया है।

विदेह—देह रहित सिद्ध भगवान विदेह कहलाते हैं। अथवा देह में रहते हुए भी जो जन्म-मरण से रहित है ऐसे अर्हन्त भगवान विदेह है।

विदेह-क्षेत्र—जम्बूद्वीप में एक, धातकीखण्ड में दो और पुष्करार्ध में दो ऐसे पाच विदेह-क्षेत्र हैं। इनमें प्रत्येक के वत्तीस-वत्तीस देश है। इस प्रकार अढाई द्वीप में कुल एक सौ साठ विदेह-देश है। यहा मनुष्यों की ऊचाई पाच सौ धनुष और आयु एक कोटि वर्ष पूर्व होती है। तीर्थकर आदि शलाका-पुरुष और ऋद्धिधारी साधुओं का समागम सदा बना रहता है। प्रत्येक विदेह-देश में तीर्थकर, चक्रवर्ती आदि शलाका पुरुष यदि अधिक-से-अधिक होवे तो एक-एक होते हैं अर्थात् कुल एक सौ साठ होते हैं। यदि कम-से-कम होवे तो एक विदेह-क्षेत्र में चार और पांचों विदेह में बीस तीर्थकर सदा विद्यमान रहते हैं। यहा विदेही जन अर्थात् अर्हन्त भगवान सदा विद्यमान रहते हैं। इसलिए इसका विदेह नाम सार्थक है।

विद्या-दोष—यदि साधु विद्या या मन्त्र आदि से आमंत्रित देवों के द्वारा आहार ग्रहण करे तो यह विद्या नामक दोष है।

विद्याधर—विजयार्द्ध पर्वत पर निवास करने वाले मनुष्य विद्याधर कहलाते हैं। विद्याधर लोग जाति, कुल और तप—इन तीन प्रकार की विद्याओं और देवपूजा, गुरुपास्ति आदि षट्कर्म से सम्पन्न होते हैं।

विद्यानुप्रवाद—जिसमें सर्व विद्याओं, आठ महानिमित्तों, क्षेत्र, श्रेणी, लोक-प्रतिष्ठा, समुद्रधात आदि का वर्णन किया गया है वह विद्यानुप्रवाद-पूर्व नाम का दसवा पूर्व है।

विधान—विधान का अर्थ प्रकार या भेद है।

विनय—पूज्य पुरुषों का आदर करना विनय-तप है अथवा रत्नत्रय को धारण करने वाले पुरुषों के प्रति नम्रता धारण करना विनय है। विनय पाच प्रकार की है—ज्ञान-विनय, दर्शन-विनय, चारित्र-विनय, तप-विनय और उपचार-विनय। उपचार विनय तीन प्रकार की है—कायिक, वाचिक और मानसिक विनय।

विनय-सम्पन्नता—मोक्ष के साधनभूत सम्यग्ज्ञान आदि का और उसके साधक गुरुजनों का यथायोग्य रीति से आदर-सत्कार करना तथा कषाय की निवृत्ति करना विनय-सम्पन्नता है। यह सोलह कारण भावना में एक भावना है।

विनयाचार—मन, वचन, काय की शुद्धिपूर्वक शास्त्र को पढ़ना विनयाचार है।

विपरीत-मिथ्यात्व—1 वस्त्र आदि परिध्रह से युक्त साधु को भी निर्गन्ध मानना, केवली भगवान को कवलाहारी मानना तथा स्त्री भी सिद्ध होती है—ऐसी विपरीत मान्यता होना विपरीत-मिथ्यात्व है। 2 हिसा,

झूठ, चोरी या अज्ञान आदि से मुक्ति प्राप्त होती है ऐसा मानना विपरीत-मिथ्यात्व है।

विपर्यय-देखिए विश्वम् ।

विपाक-कर्म के फल को विपाक कहते हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव के निमित्त से उत्पन्न हुआ कर्म का विविध प्रकार का पाक अर्थात् फल ही विपाक कहलाता है। इसी को अनुभव भी कहते हैं।

विपाक-विचय-ससार में जीवों को जो एक ओर अनेक भव में पुण्य और पाप-कर्म का फल प्राप्त होता रहता है उसका बार-बार चिन्तवन करना विपाक-विचय नाम का धर्म-ध्यान है।

विपाक-सूत्राङ्ग-जिसमें पुण्य और पाप के विपाक अर्थात् फल का वर्णन किया गया है वह विपाक-सूत्राङ्ग है।

विपुलमति-विपुल का अर्थ विस्तीर्ण है। जो दूसरे के मन में स्थित सरल और कुटिल सब वातों को जान लेता है वह विपुलमति मन -पर्यय-ज्ञान है। आशय यह है कि विपुलमति मन पर्यय ज्ञान के द्वारा सरल और कुटिल मन, वचन, कायगत अर्थ को तथा चिन्तित, अर्धचिन्तित, अचिन्तित व विपरीत चिन्तित सब प्रकारों के विन्ता, जीवन-मरण, दुख-सुख आदि को जाना जा सकता है।

विभाव-स्वभाव से विपरीत परिणमन करना विभाव है। कर्म के उदय से होने वाले जीव के रागादि भावों को विभाव कहा गया है।

विभाव-पर्याय-‘पर’ द्रव्य के निमित्त से होने वाली पर्याय को विभाव-पर्याय कहते हैं जेसे—जीव की देव, मनुष्य, तिर्यच आदि

पर्याय ।

विभ्रम—१ वस्तु को विपरीत रूप में ग्रहण करना विभ्रम है । जैसे—सीप को चादी और चादी को सीप कहना । २ अनेक धर्मात्मक वस्तु को ‘यह नित्य ही है’ या ‘अनित्य ही है’—ऐसा सर्वथा एकधर्म रूप जानना विभ्रम है ।

विमलनाथ—तेरहवे तीर्थकर । काम्पिल्य नगर के राजा कृतवर्मा की रानी जयश्यामा के यहा इनका जन्म हुआ । इनकी आयु साठ लाख वर्ष थी । शरीर साठ धनुष ऊचा था और स्वर्ण के समान कान्तिमान था । हेमन्त ऋतु में मेघ की शोभा को तत्क्षण विलीन होते देखकर विरक्त हो गए । जिनदीक्षा ले ली और तीन वर्ष की कठिन तपस्या के फलस्वरूप केवलज्ञान प्राप्त किया । इनके सघ में पचपन गणधर, अडसठ हजार मुनि, एक लाख तीन हजार आर्यिकाएं, दो लाख श्रावक व चार लाख श्राविकाएं थीं । इन्होने सम्प्रदाशिखर से मोक्ष प्राप्त किया ।

विमोह—देखिए अनध्यवसाय ।

विरताविरत—देखिए सयतासयत या देशसयत ।

विराग—पचेन्द्रिय के विषयों से विरक्त होने का नाम विराग है ।

विरोधी-हिंसा—शत्रु से अपना वचाव करने के लिए जो हिसा होती है उसे विरोधी-हिसा कहते हैं ।

विवक्षा—वक्ता की इच्छा को विवक्षा कहते हैं । प्रश्नकर्ता के प्रश्न से ही प्रतिपादन करने वाले की विवक्षा होती है ।

विवाह—कन्या के वरण को विवाह कहते हैं । जैनागम में केवल सन्तान

उत्पन्न करन की इच्छा से विवाह की स्वीकृति दी गई है क्योंकि सस्कारवान सन्तान के द्वारा धर्म को परम्परा का निर्वाह होता है।

विविक्त शश्यासन—रागद्रेप उत्पन्न करने वाले आसन या शश्या का त्याग करके निर्वाध अध्ययन, ध्यान या ब्रह्मचर्य की सिद्धि के लिए साधु के द्वारा जां एकान्त स्थान पर शश्या व आसन ग्रहण किया जाता है वह विविक्त शश्यासन नाम का तप है।

विवेक—1 जिस-जिस वस्तु के अवलम्बन से अशुभ परिणाम होते है उसको त्याग देना अथवा उससे स्वय दूर होना विवेक नाम का प्रायश्चित्त है। 2 दोषयुक्त साधु को गण, गच्छ, द्रव्य या क्षेत्र आदि से अलग करना विवेक नाम का प्रायश्चित्त है।

विशुद्धि—सातावेदनीय कर्म के वन्धयोग्य परिणाम का नाम विशुद्धि है। अथवा कषाय की मदता का नाम विशुद्धि है।

विशुद्धि-लक्ष्य—साता-वेदनीय आदि शुभकर्मों के वन्ध योग्य परिणाम या असाता आदि अशुभ कर्मों के वन्ध के विरोधी परिणाम का नाम विशुद्धि है उसकी प्राप्ति होना विशुद्धि-लक्ष्य है।

विषय—इन्द्रियों के द्वारा जानने योग्य पदार्थ को विषय कहते है। पाच रस, पाच वर्ण, दो गध, आठ स्पर्श और सात स्वर ऐसे सत्ताइम भेद इन्द्रिय सम्बन्धी विषयों के हैं तथा अनेक विकल्प स्तर एक विषय मन का है, इस प्रकार कुल विषय अड्डाइस हैं।

विसयोजना—अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया व लोभ को अन्य प्रकृति स्तर अर्थात् अप्रत्याख्यान आदि बारह कपाय और हास्य आदि नो

नोकषाय रूप से परिवर्तित करना विसयोजना कहलाती है।

विस्तार-सम्यगदर्शन—द्वादशाग रूप जिनवाणी में वर्णित बारह अङ्ग और चौदह पूर्व को बहुत विस्तार से सुनकर जो सम्यगदर्शन होता है वह विस्तार-सम्यगदर्शन कहलाता है।

विहायोगति-नामकर्म—विहायस् का अर्थ आकाश है। जिस कर्म के उदय से भूमि का आश्रय लेकर या भूमि का आश्रय लिए बिना भी जीवों का आकाश में गमन होता है वह विहायोगति नामकर्म है। यह दो प्रकार का है—प्रशस्त और अप्रशस्त। हाथी, बैल, हस आदि की अच्छी चाल को प्रशस्त विहायोगति कहते हैं। ऊंट या सर्प आदि की अटपटी चाल को अप्रशस्त विहायोगति कहते हैं।

बीतराग—आत्म-साधना के द्वारा जिन्होने राग-द्वेष को नष्ट कर दिया है उन्हे बीतराग कहते हैं।

बीतराग-कथा—गुरु और शिष्य के बीच या रागद्वेष से विमुख विशेष विद्वानों के बीच तत्व के निर्णय होने तक जो चर्चा चलती है उसे बीतराग-कथा कहते हैं।

बीतराग-चारित्र—देखिए निश्चय-चारित्र।

बीतराग-सम्यकत्व—देखिए निश्चय-सम्यगदर्शन।

बीर्य-प्रवाद—जिसमें केवली भगवान की अनन्त शक्ति, इन्द्र आदि की ऋद्धिया, चक्रवर्ती, वलदेव आदि की सामर्थ्य और द्रव्य के लक्षण आदि का वर्णन किया गया है वह बीर्य-प्रवाद पूर्व नाम का तीसरा पूर्व है।

बीर्यचार—अपनी शक्ति को न छिपाकर उत्साहपूर्वक तप आदि

पचाचार का पालन करना वीर्याचार कहलाता है।

वीर्यान्तराय-द्रव्य की अपनी शक्ति विशेष का नाम वीर्य है। जिस कर्म के उदय से जीव किसी कार्य के प्रति उत्साहित होने की इच्छा होते हुए भी उत्साहित नहीं हो पाता या असमर्थता का अनुभव करता है उसे वीर्यान्तराय कर्म कहते हैं।

वृत्ति-परिसङ्ख्यान-आहार के इच्छुक साधु का एक, दो घर आदि विषयक सकल्प करना वृत्ति-परिसङ्ख्यान नाम का तप है। वृत्ति-परिसङ्ख्यान में घर, दाता, वर्तन और भोजन इन चारों का परिसङ्ख्यान किया जाता है। जैसे—मे आज पाच घरों से अधिक नहीं जाऊगा या मैं आज चार दाताओं से ही आहार लूगा या कासे के पात्र में ही आज आहार लूगा अथवा आज चावल व मूग ही खाऊगा—ऐसी अनेक प्रकार की विधि या सकल्प लेना।

वेद—आत्मा में जो मेथुन या कामसंवन रूप चित्त-विक्षेप उत्पन्न होता है उसे वेद कहते हैं। इसका दूसरा नाम लिंग भी है। वेद या लिंग तीन प्रकार का है—स्त्री वेद, पुरुष वेद और नपुसक वेद। यह तीनों वेद, द्रव्य व भाव रूप होते हैं। नामकर्म के उदय से शरीर में स्त्री-पुरुष के अनुरूप जो योनि, मेहन आदि की रचना होती है वह द्रव्य-वेद है। स्त्री, पुरुष व नपुसक इन तीनों में जो परस्पर एक दूसरे की अभिलाषा होती है वह भाव-वेद है। एकेन्द्रिय से लेकर असज्जी पचेन्द्रिय पर्यंत सब जीवों के एकमात्र नपुसक वेद है। मनुष्यों में तीनों वेद हैं। देवों में स्त्री पुरुष ये दो वेद हैं। नारकी जीव के एकमात्र नपुसक वेद है।

वेदक-सम्यकत्व-दर्शन-मोहनीय कर्म की सम्यकत्व प्रकृति के उदय से जो तत्त्वार्थ-श्रद्धान होता है वह वेदक सम्यकत्व कहलाता है। इसे क्षायोपशमिक सम्यगदर्शन भी कहते हैं। सम्यकत्व-प्रकृति के उदय में वेदक सम्यगदृष्टि जीव शिथिल श्रद्धानी होता है और उसका सम्यगदर्शन चल, मल और अगाढ़ दोष से युक्त होता रहता है।

वेदना-आर्तध्यान-अनुभव करने का नाम वेदना है। ‘वेदना’ सुख-दुख दोनों रूप होती है पर यहा आर्तध्यान का प्रकरण होने से वेदना का अर्थ दुख है। रोगादि जनित वेदना के होने पर उसे दूर करने की सतत चिन्ता करना वेदना नाम का आर्तध्यान है।

वेदना-भय-रोगादि जनित वेदना के उत्पन्न होने की आशका से जो भय होता है उसे वेदना-भय कहते हैं।

वेदना-समुद्घात-अत्यन्त तीव्र वेदना होने पर जो आत्मा के प्रदेश शरीर से बाहर फेल जाते हैं उसे वेदना-समुद्घात कहते हैं।

वेदनीय कर्म-जिस कर्म के उदय से जीव सुख-दुख का वेदन अर्थात् अनुभव करता है उसे वेदनीय कर्म कहते हैं। यह दो प्रकार का है—साता-वेदनीय व असाता-वेदनीय।

वैक्रियिक-शरीर-छोटा, बड़ा, हल्का, भारी अनेक प्रकार का शरीर बना लेना विक्रिया कहलाती है। विक्रिया ही जिस शरीर का प्रयोजन हे वह वैक्रियिक-शरीर कहलाता है। वैक्रियिक-शरीर उपपाद जन्म से पैदा होता है तथा ऋद्धि से भी प्राप्त होता है।

वैक्रियिक-समुद्घात-विक्रिया करने के लिए अर्थात् शरीर को छोटा,

बड़ा या अन्य शरीर रूप करने के लिए आत्मा के प्रदेश शरीर से बाहर निकलते हैं वह वैक्रियिक-समुद्रधात है।

वैनियिक—जिसमें ज्ञान, दर्शन आदि पाच प्रकार की विनय का वर्णन किया गया है वह वैनियिक नाम का अङ्गबाह्य है।

वैनियिक-मिथ्यात्व—सब मतों और सब देवताओं को एक समान मानना वैनियिक-मिथ्यात्व है।

वैमानिक देव—जो विमानों में उत्पन्न होते हैं वे वैमानिक देव कहलाते हैं। वैमानिक देव दो प्रकार के हैं—कल्पवासी और कल्पातीत।

वैद्यावृत्त्य—1 गुणीजनों के ऊपर दुख आ पड़ने पर उसके निवारणार्थ जो सेवा-सुश्रुषा की जाती है वह वैद्यावृत्त्य नाम का तप है। आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण, कुल, सघ, साधु और मनोज्ञ—इन पर विपत्ति आने पर वैद्यावृत्त्य करना चाहिए। रोगादि से व्याकुल साधु को प्रासुक आहार औषध आदि देना तथा उनके अनुकूल वातावरण बना देना यही वैद्यावृत्त्य है। 2 गुणीजनों के ऊपर दुख आ पड़ने पर निर्दोष-विधि से उनका दुख दूर करना वैद्यावृत्त्य-भावना है। यह सोलह-कारण भावना में एक भावना है।

व्यञ्जन-निमित्तज्ञान—शरीर में स्थित तिल या मसा आदि को देखकर दुख-सुखादि को जान लेना व्यञ्जन-निमित्त-ज्ञान है।

व्यञ्जन-पर्याय—जो स्थूल है, शब्द के द्वारा कही जा सकती है और चिरस्थायी है उसे व्यञ्जन-पर्याय कहते हैं। जैसे जीव की सिद्ध पर्याय या मनुष्य आदि पर्याय।

व्यञ्जनाचार—अक्षर, पद, वाक्य आदि का शुद्ध पाठ करना व्यञ्जनाचार है।

व्यञ्जनावग्रह—देखिए अवग्रह।

व्यन्तर—भूत, पिशाच आदि जाति के देवों को जैनागम में व्यन्तर-देव कहा गया है। इनका निवास अधिकतर मध्यलोक में खड़हर आदि सूने स्थानों में रहता है। मनुष्य व तिर्यचों के शरीर में प्रवेश करके ये देव उन्हे लाभ-हानि पहुंचा सकते हैं। अन्य देवों के समान इनका भी बहुत वेभव और परिवार आदि होता है। किन्त्र, किम्पुरुष, महोरग, गधर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच—ये आठ प्रकार के व्यन्तर-देव हैं।

व्यय-द्रव्य की पूर्व-पर्याय का विनाश होना व्यय कहलाता है।

व्यवहार-काल—समय, निमेष, घड़ी, घटा, दिन, रात, मास, वर्ष आदि को व्यवहार-काल कहते हैं।

व्यवहार-चारित्र—ब्रत आदि का पालन करना व्यवहार-चारित्र हे अथवा मन, वचन, काय से समस्त पाप-क्रियाओं का त्याग करना व्यवहार-चारित्र है। व्यवहार-चारित्र, सराग-सयम, शुभोपयोग, अपहत-सयम, एकदेश परित्याग या अपवाद-पार्ग वे सभी एकार्थवाची हैं।

व्यवहार-न्य—सग्रह-न्य के द्वारा ग्रहण किये गये पदार्थों का विधिपूर्वक भेद करना व्यवहार-न्य है। जैसे—सग्रह-न्य के विपयभूत द्रव्य में जीव व अजीव द्रव्य ऐसे दो भेद करना। उम्मे भी देव, मनुष्य आदि जीव के भेदों का ज्ञात्रय लेकर व्यवहार करना। यह दो प्रकार

श

शक्तितस्तप—अपनी शक्ति को न छिपाते हुए मोक्षमार्ग के अनुकूल कायवलेश आदि तप करना शक्तितस्तप कहलाता है। यह सोलहकारण भावना में एक भावना है।

शक्तितस्त्याग—अपनी शक्ति के अनुरूप दान देना शक्तितस्त्याग भावना है। यह सोलहकारण भावना में एक भावना है।

शङ्कित-दोष—‘यह आहार आगमानुसार मेरे लेने योग्य है या नहीं’, इस प्रकार सन्देह होने पर भी यदि साधु उसे ग्रहण करे तो यह शङ्कित नाम का दोष है।

शब्द-गारव—‘भेरे समान शब्दों का स्पष्ट उच्चारण करने वाला कोई नहीं है’ ऐसा अपना बड़प्पन बताना शब्द-गारव है।

शब्द-नय—व्याकरण के अनुसार सिद्ध कर लिए गए शब्द का यथायोग्य प्रयोग करना शब्द-नय है। अथवा शब्द के माध्यम से अर्थ का बोध कराने वाला शब्द-नय है। शब्द नय में पर्यायवाची विभिन्न शब्दों का प्रयोग होने पर भी एक ही अर्थ का कथन किया जाता है। जैसे—इन्द्र, शक्र, पुरुन्दर आदि पर्यायवाची शब्दों का एक ही अर्थ है परन्तु यह एकार्थता समान काल, लिंग आदि वाले शब्दों में है सब पर्यायवाची शब्दों में नहीं। शब्दनय के कथन में इसका भी विचार किया जाता है।

शब्द-समय—वर्ण, पद व वाक्य रूप आगम को शब्द-समय या शब्द-आगम कहते हैं। शब्द-समय द्रव्यशुत रूप है।

शम—काम क्रोधादि का शमन करना शम कहलाता है ।

श्यापरीषह-जय—जो साधु स्वाध्याय, ध्यान अथवा मार्ग के श्रम से थककर कठोर भूमि पर एक करवट से शयन करता है, उपसर्ग आदि बाधा आने पर विचलित नहीं होता और बाधा को समतापूर्वक सहन करता है उसके यह श्यापरीषह-जय है ।

शरीर—अनन्तानन्त पुद्गलो के समवाय का नाम शरीर है । अथवा जो विशेष नामकर्म के उदय से प्राप्त होकर निरन्तर जीर्ण-शीर्ण होता या गलता रहता है वह शरीर है । औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस व कार्मण—ये पाच प्रकार के शरीर हैं ।

शरीर-नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव के औदारिक आदि शरीर का रचना होती है उसे शरीर-नामकर्म कहते हैं ।

शलाका-पुरुष—तीर्थकर, चक्रवर्ती आदि प्रसिद्ध पुण्यवान पुरुषों को शलाका-पुरुष कहते हैं । चौबीस तीर्थकर, बारह चक्रवर्ती, नौ नारायण, नौ प्रतिनारायण और नौ बलभद्र—ये त्रेसठ शलाका पुरुष हैं ।

शत्य—शत्य का अर्थ पीड़ा देने वाली वस्तु है । जब शरीर में काटा आदि चुभ जाता है तो वह पीड़ादायक होने से शत्य कहलाता है । इसी प्रकार शरीर और मन सम्बन्धी पीड़ा का कारण होने से कमोदय-जनित विकारों को भी शत्य कहते हैं । शत्य तीन प्रकार की है—माया-शत्य, मिथ्या-शत्य और निदान-शत्य ।

शान्तिनाथ—ये सोलहवे तीर्थकर और पाचवे चक्रवर्ती थे । हस्तिनापुर के कुरुवशी राजा विश्वसेन इनके पिता और गान्धार नगर के राजा

अजितजय की पुत्री ऐरा इनकी माता थी। इनकी आयु एक लाख वर्ष, ऊचाई चालीस धनुष और शरीर की कान्ति स्वर्ण के समान थी। कुमार काल के पच्चीस हजार वर्ष बीत जाने पर इनका राज्याभिषेक हुआ। एक दिन दर्पण में अपने दो प्रतिविव देखकर इन्हे वेराग्य हो गया। तब चक्रवर्ती का विपुल वैभव छोड़कर इन्होंने जिनदीक्षा ले ली। सालह वर्ष की तपस्या के उपरान्त इन्हे कवलज्ञान प्राप्त हुआ। इनके सध में छत्तीस गणधर, वावन हजार मुनि, साठ हजार तीन सौ आर्यिकाएं, दो लाख श्रावक व चार लाख श्राविकाएं थीं। इन्होंने सम्मेदशिखर से मोक्ष प्राप्त किया।

शास्त्र-जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहे गये सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र स्तर धर्म का जिसमें प्रतिपादन किया गया है उसे आगम या शास्त्र कहते हैं।

शास्त्र-दान-भव्य जीवों को श्रद्धापूर्वक शास्त्र भेट करना अथवा धर्मोपदेश देना ज्ञानदान या शास्त्रदान कहलाता है।

शिक्षाव्रत-मुनि धर्म की शिक्षा पाने के लिए जो व्रत श्रावक के द्वारा ग्रहण किये जाते हैं उन्हे शिक्षाव्रत कहते हैं। शिक्षाव्रत चार हैं—देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास और वैद्यावृत्त्य या अतिथि-संविभाग।

शीत-परीषह-जय-जिसने वस्त्र आदि आवरण का त्याग कर दिया है जो वृक्ष-मूल, नदी-तट या शिलातल आदि पर निवास करते हुए बर्फ गिरने या शीतल हवा चलने पर उसे समतापूर्वक सहन करता है उस साधु के यह शीत-परीषह-जय है।

शीतलनाथ—दसवे तीर्थकर। भद्रपुर नगर के इक्ष्वाकुवशी राजा दृढरथ इनके पिता थे और रानी सुनन्दा माता थीं। इनकी आयु एक लाख वर्ष पूर्व थी, ऊचाई नब्बे धनुष और शरीर की कान्ति स्वर्ण के समान थी। एक दिन हिमपट्टल को क्षण भर में विलीन होते देखकर इन्हे वैराग्य हो गया और इन्होने जिनदीक्षा ले ली। तीन वर्ष तक कठिन तपस्या के उपरान्त इन्हे केवलज्ञान प्राप्त हुआ। इनके संघ में इव्यासी गणधर, एक लाख मुनि, तीन लाख अस्सी हजार आर्यिकाएँ, दो लाख श्रावक और तीन लाख श्राविकाएँ थीं। इन्होने सम्मेदशिखर से मोक्ष प्राप्त किया।

शीलव्रतेष्वनतिचार—अहिंसा आदि व्रतों की रक्षा के लिए क्रोधादि कषाय का त्याग करना शील है। व्रत और शील दोनों का निर्दोष पालन करना शीलव्रतेष्वनतिचार है। यह सोलह-कारण-भावना में एक भावना है।

शुक्लध्यान—रागादि विकल्प नष्ट हो जाने पर आत्मा में जो निर्विकल्प-ध्यान की प्राप्ति होती है उसे शुक्लध्यान कहते हैं। जैसे मैल हट जाने से वस्त्र स्वच्छ होकर शुक्ल कहलाता है। उसी प्रकार कषाय रूपी मैल के नष्ट होने पर आत्मा के शुचि गुण के सम्बन्ध से इस ध्यान को भी शुक्लध्यान कहते हैं। शुक्ल-ध्यान के चार सोपान या भेद हैं—पृथक्त्ववितर्कवीचार, एकत्व-वितर्क अवीचार, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती और व्युपरतक्रियानिवृत्ति। प्रथम दो शुक्ल ध्यान के स्वामी चौदह पूर्व के ज्ञाता मुनि होते हैं। शेष दो शुक्लध्यान केवली भगवान को होते हैं।

शुक्ल-लेश्या—पक्षपात न करना, आगामी-काल में भोग की आकाशा

न करना, समस्त प्राणियों में समता-भाव रखना तथा रागद्वेष व मोह नहीं करना, ये शुद्धता-लेश्या के लक्षण हैं।

शुद्धोपयोग—रागादि विकल्पों से रहित आत्मा की निश्चल दशा ही शुद्धोपयोग है। निश्चय रत्नत्रय से युक्त वीतरागी श्रमण को शुद्धोपयोगी कहा गया है।

शुभ तैजस—देखिए प्रशस्त नि सरणात्मक तैजस।

शुभ-नामकर्म—जिस कर्म के उदय से शरीर रमणीय होता है वह शुभ-नामकर्म है। इससे विपरीत अशुभ-नामकर्म है।

शुभोपयोग—दया, दान, पूजा, व्रत, शील आदि रूप शुभ राग और चित्त-प्रसाद रूप परिणाम होना शुभोपयोग है।

शैक्ष—शिक्षाशील साधु को शैक्ष कहते हैं।

शोक—उपकार करने वाले से सबध छूट जाने पर जो चित्त में विकलता होती है उसे शोक कहते हैं।

शौच—लौभ का त्याग करना शौच-धर्म है। जो मुनि इच्छाओं को रोककर और वैराग्य रूप विचारों से युक्त होकर आचरण करता है उसके शौच-धर्म होता है।

शौचोपकरण—मुनिजनों के देह-शुद्धि में सहायक कमण्डलु को शौचोपकरण कहते हैं।

श्रमण—देखिए साधु।

श्रावक—सच्चे देव-शास्त्र-गुरु पर श्रद्धा रखने वाले सद्गृहस्थ को

श्रावक कहते हैं। श्रावक की तीन विशेषताएँ होती हैं—वह श्रद्धावान्, विवेकवान् और सदाचारी होता है। श्रावक तीन प्रकार के हैं—पाक्षिक-श्रावक, नैछिक-श्रावक और साधक-श्रावक।

श्रावक-धर्म—1. दान, पूजा, शील और उपवास यह श्रावक-धर्म है। 2 पूर्वजो की कीर्ति की रक्षा करना, देव-पूजा, अतिथि-सल्कार, वन्धु-बान्धवों की सहायता और आत्मोन्नति में सदा तत्पर रहना—ये श्रावक-धर्म हैं।

श्री—‘श्री’ का अर्थ लक्ष्मी है। अर्हन्त भगवान के अनन्त चतुष्टय रूप अतरण-लक्ष्मी और समवसरण आदि बाह्य-लक्ष्मी को ‘श्री’ कहते हैं।

श्रुतकेवली—द्वादशाग रूप समस्त श्रुतज्ञान को धारण करने वाले महर्षि को श्रुत-केवली कहते हैं। श्रुतकेवली सर्व आगम के ज्ञाता होते हैं। अर्थात् द्रव्यश्रुत व भावश्रुत दोनों से सम्पन्न होते हैं।

श्रुतज्ञान—1 मतिज्ञान से जाने हुए पदार्थ के अवलम्बन से तत्सम्बन्धी दूसरे पदार्थ का जो ज्ञान होता है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। 2 जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहे गए वचनों के अनुरूप गणधर आदि के द्वारा जो ग्रन्थ रचना की जाती है उसे श्रुत या श्रुतज्ञान कहते हैं। श्रुतज्ञान दो प्रकार का है—अङ्ग-प्रविष्ट और अङ्ग-बाह्य। आचाराङ्ग आदि बारह अङ्ग और चौदह पूर्व अङ्ग-प्रविष्ट के अतर्गत आते हैं तथा सामायिक, कृतिकर्म आदि अङ्ग-बाह्य नामक श्रुत है। सारा श्रुतज्ञान दो रूपों में मिलता है—द्रव्यश्रुत और भावश्रुत। जो अक्षरात्मक द्वादशाग है वह द्रव्यश्रुत है तथा इसे सुनने से जो स्वानुभव या स्वस्वेदन ज्ञान उत्पन्न होता है वह भावश्रुत कहलाता है।

श्रुतावर्णवाद—“मदिरा, मास, मधु, रात्रिभोजन आदि पापाचरण शास्त्र-सम्मत है”—ऐसा कहना श्रुत का अवर्णवाद है।

श्रेयासनाथ—ग्यारहवे तीर्थकर। ये सिहपुर नगर के इक्ष्वाकुवशी राजा विष्णु और रानी नन्दा के पुत्र थे। इनकी आयु चौरासी लाख वर्ष की थी। ऊचाई अस्सी धनुष थी। शरीर स्वर्ण के समान आभा वाला था। इन्होंने वयालीस लाख वर्ष तक राज्य किया। एक दिन वसन्त ऋतु के परिवर्तन को देखकर इन्हे वैराग्य हो गया और इन्होंने जिनदीक्षा ले ली। दो वर्ष की कठिन तपस्या के उपरान्त इन्हे केवलज्ञान हुआ। इनके सध मे सतहन्तर गणधर, चौरासी हजार मुनि, एक लाख बीस हजार आर्यिकाए, दो लाख श्रावक और तीन लाख श्राविकाए थीं। इन्होंने सम्मेदशिखर से मोक्ष प्राप्त किया।

श्रोता—शास्त्र के अर्थ को ठीक-ठीक ग्रहण और धारण करने वाले विनयवान व सदाचारी पुरुष श्रेष्ठ श्रोता कहलाते हैं। श्रोता मुख्यत तीन प्रकार के हैं—जो केवल सारभूत वस्तु को ग्रहण करते हैं वे हस के समान उत्तम-श्रोता हैं। जो शास्त्र सुनते समय गीली मिट्टी के समान कोमल होते हैं बाद मे कठोर परिणामी हो जाते हैं वे मध्यम श्रोता हैं। जो गुणों को छोड़कर सिर्फ अवगुण ग्रहण कर लेते हैं वे जौक के समान अधम-श्रोता हैं।

श्रोत्र-इन्द्रिय—जिसके द्वारा प्राणी सुनता हे उसे श्रोत्र-इन्द्रिय कहते हैं।

स

सकल-दत्ति—अपने वश की प्रतिष्ठा के लिए अपने किसी योग्य पुत्र को कुल-पद्धति और धन के साथ अपना कुटुम्ब समर्पित करना सकल-दत्ति या अन्वयदत्ति कहलाता है।

सचित्त—आत्मा के द्यैतन्य विशेष परिणाम को चित्त कहते हैं। जो चित्त सहित है वह सचित्त कहलाता है। सूखने पर या अग्नि पर पकाये जाने पर वनस्पति आदि पदार्थ अचित्त या प्रासुक हो जाते हैं।

सचित्त-त्याग-प्रतिमा—प्रोषधोपवास नामक चौथी प्रतिमा धारण करने के उपरान्त कच्चे जल, फल-फूल आदि का त्याग करके प्रासुक जल, फल-फूल आदि ग्रहण करने की प्रतिज्ञा करना श्रावक की पाचवी सचित्त-त्याग-प्रतिमा है।

सत्—1 सत् शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में होता है। यहा सत् का अर्थ सत्त्व हे अर्थात् सत् शब्द अस्तित्व का वाचक है। गति, इन्द्रिय आदि चौदह मार्गणिओं में सम्पर्दर्शन आदि ‘कहा है, कहा नहीं है’ यह सूचित करने के लिए सत् का ग्रहण किया जाता है। 2 जो उत्पाद, व्यय और धोव्य से युक्त है वह सत् हे।

सत्कार-पुरस्कार-परीषह-जय—सत्कार का अर्थ पूजा-प्रशसा है तथा क्रिया के आरभ आदि मे आगे करना या निमत्रण देना पुरस्कार है। तपस्वी, ज्ञानवान ओर चिरकाल से दीक्षित होते हुए भी आदर सत्कार नहीं मिलने पर जो साधु मन को कलुषित नहीं होने देता और समतापूर्वक अनादर को सहन करता है उसके सत्कार-पुरस्कार-

परीषह-जय होता है।

सत्य-राग, द्वेष या मोह से प्रेरित सब प्रकार के झूठ वचनों का त्याग करना और आगम के अनुरूप बोलना सत्य महाव्रत है। 2 स्थूल झूठ का त्याग करना और जीवों का धात करने वाला सत्य-वचन भी नहीं बोलना सत्य-अणुव्रत है।

सत्यधर्म—जो मुनि दूसरे को क्लेश पहुंचाने वाले वचनों को छोड़कर अपने और दूसरे का हित करने वाले वचन कहता है उसके सत्यधर्म होता है। अथवा सज्जन पुरुषों के साथ श्रेष्ठ वचन बोलना सत्य-धर्म है।

सत्य-प्रवाद—जिसमें वचन-गुप्ति, वचन-सस्कार के कारण, वचन-प्रयोग, वारह प्रकार की भाषाएं, दस प्रकार के सत्य, वक्ता के प्रकार आदि का विस्तार से विवेचन है वह सत्य-प्रवाद पूर्व नाम का छठवा पूर्व है।

सत्य-मन-वचन—यथार्थ या सत्य को जानने या कहने में जीव के मन और वचन की प्रयत्न स्वप्न प्रवृत्ति को सत्य मन व वचन योग कहते हैं। जैसे—यथार्थ जल जिसमें स्नान किया जा सकता है जिसे पी सकते हैं। उसे ही जल जानना या जल कहना।

सत्त्व—1 सत्त्व का अर्थ अस्तित्व है। 2 सत्त्व यह जीव का पर्यायवाची नाम है। 3 जो पूर्व संचित कर्म है उनका आत्मा में अवस्थित रहना सत्त्व कहलाता है। इसे सत्ता भी कहते हैं।

सद्भूत-व्यवहार-नय—गुण और गुणी में भेद करके कथन करने वाला सद्भूत-व्यवहार-नय है। जैसे—आत्मा किसी को दिखाई नहीं देती किन्तु इसकी जानने देखने की शक्तिया अर्थात् गुण सबके अनुभव में आते हैं। अतः गुणों का अलग से नाम लेकर आत्मा के स्वरूप

और अस्तित्व का बोध कराना सभव होता है। यही इस नय का प्रयोजन है। यह दो प्रकार का है—अनुपचरित सद्भूत और उपचरित-सद्भूत।

सन्निधिकरण—सम्मुख या निकट होना सन्निधिकरण है। पूजा करते समय पूज्य पुरुष को अपने हृदय में बिठाना सन्निधिकरण कहलाता है।

सप्तभगी—प्रश्न के अनुसार एक ही वस्तु में जो बिना किसी विरोध के सत्, असत् आदि धर्मों का कथन किया जाता है उसे सप्तभगी कहते है। स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति, स्यात् अस्ति-नास्ति, स्यात् अवकृतव्य, स्यात् अस्ति-अवकृतव्य, स्यात् नास्ति-अवकृतव्य और स्यात् अस्ति-नास्ति-अवकृतव्य—इस प्रकार वस्तु को जानने के लिए सात प्रकार के प्रश्न उठते हैं सो उनके उत्तर भी सात है। यही सप्तभगी है। जैसे ‘कथचित् घड़ा है’ अर्थात् किसी अपेक्षा घड़ा है, इस प्रकार घड़े के अस्तित्व सम्बन्धी सात प्रश्न और सात ही उत्तर सभव हैं। मुख्य और गौण की अपेक्षा से सभी को जानना सार्थक है।

सप्रतिष्ठित—देखिए प्रत्येक वनस्पति।

समचतुरस्स-सस्थान—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर सुडौल होता है उसे समचतुरस्स-शरीर-सस्थान-नामकर्म कहते है।

समता—शत्रु-मित्र मे, सुख-दुख मे, लाभ-अलाभ और जय-पराजय मे, हर्ष-विषाद नहीं करना या साम्य भाव रखना समता है।

समदत्ति—जो आचार-विचार आदि मे अपने समान अन्य उत्तम गृहस्थ है उसे विनयपूर्वक अपनी कन्या और धन-धान्य आदि देना समदत्ति है।

समन्तानुपात-क्रिया—स्त्री-पुरुष और पशुओं के आने-जाने या उठने-वेठने के स्थान में पल, मूत्र आदि करना समन्तानुपात-क्रिया है।

समभिसूढ़-नय—जो शब्द के अनेक अर्थों को छोड़कर प्रधानता से एक ही रूढ़ अर्थ को ग्रहण करता है उसे समभिसूढ़-नय कहते हैं। जेसे—‘गों’ शब्द के अनेक अर्थ हैं पर यह शब्द एक पशु विशेष के अर्थ में रूढ़ या प्रसिद्ध है। अत यह नय उसे ही ग्रहण करता है। इस नय के अनुसार जो शब्द जिस अर्थ या पदार्थ के लिए प्रसिद्ध हो गया है वह शब्द हर अवस्था में उसी अर्थ या पदार्थ का चाचक होगा। जेसे—आठ उपवास करके मोक्ष जाने वाले मुनि को सदा अट्टोपवासी कहना।

समय—१ समय से एक परमाणु को आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश तक जाने में जितना काल लगता है, उसे समय कहते हैं। यह काल की इकाई है। २ समय का अर्थ जीव या आत्मा है। ३ समय का अर्थ आगम या यत भी है। स्व-समय और पर-समय ऐसे दो भेद समय के हैं। मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा को पर-समय और सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा को स्व-समय कहते हैं।

समवसरण—तीर्थकर की धर्मसभा को समवसरण कहते हैं। जहा समस्त स्त्री-पुरुष, पशु-पक्षी और देवी-वेवता समान भाव से भगवान का उपदेश सुनते हैं अथवा जहा सभी भव्य जीव तीर्थकर की दिव्यध्यनि के अवसर की प्रतीक्षा करते हैं वह समवसरण है। सोधर्म इन्द्र की आज्ञा से कुवेर के द्वारा तीर्थकरों के योग्य समवसरण की रचना की जाती है।

समवायाङ्ग—जिसमे पदार्थों की समानता के आधार पर समवाय का विचार किया गया है वह समवायाङ्ग है। जैसे धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, लोकाकाश और एक जीव के समान रूप से असख्यात-प्रदेश होने के कारण समानता के आधार पर इन सबका द्रव्य रूप से समवाय कहा जाता है। इसी प्रकार यथायोग्य क्षेत्र, काल व भाव रूप समवाय भी जानना चाहिए।

समाचार—साधुओं के द्वारा परस्पर जो विनय आदि व्यवहार किया जाता है उसे समाचार या समाचारी कहते हैं। अथवा सभी साधुओं का जो एक समान अहिंसा आदि रूप आचरण है उसे समाचार कहते हैं।

समादान-क्रिया—सयमी का असयम के अभिमुख होना समादान-क्रिया है।

समाधि—वीतराग-भाव से आत्मा का ध्यान करना समाधि है। अथवा समस्त विकल्पों का नष्ट हो जाना परम समाधि है।

समाधिमरण—देखिए सल्लेखन।

समारम्भ—कार्य के योग्य साधनों को इकट्ठा करना समारम्भ है।

समिति—प्राणियों को पीड़ा न पहुंचे ऐसा विचार कर दया-भाव से सावधानीपूर्वक सभी प्रवृत्ति करना समिति कहलाती है। ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेपण और प्रतिष्ठापन—ये पाच समितिया हैं।

समुद्घात—वेदना आदि के निमित्त से मूल शरीर को नहीं छोड़ते हुए जो जीव के कुछ आत्म-प्रदेश शरीर से बाहर निकलते हैं उसे समुद्घात कहते हैं। समुद्घात सात प्रकार का है—केवली-समुद्घात, वेदना-

समुद्रधात, कषाय-समुद्रधात, तैजस-समुद्रधात, मारणान्तिक-समुद्रधात, विक्रिया-समुद्रधात और आहारक-समुद्रधात ।

सम्भवनाथ—तीसरे तीर्थकर । श्रावस्ती नगरी के राजा दृढ़राज इनके पिता थे और रानी सुषेणा मा थी । इनकी आयु साठ लाख वर्ष पूर्व थी । शरीर चार सो धनुष ऊचा था । चिरकाल तक राज्य करने के उपरान्त एक दिन मेघों का विलय देखकर ससार से विरक्त हो गए और पुत्र को राज्य देकर जिनदीका ग्रहण कर ली । चौदह वर्ष तक तपस्या के फलस्वरूप इन्हे केवलज्ञान हुआ । इनके सघ में चारुदत्त आदि एक सो पाच गणधर, दो लाख मुनि, तीन लाख आर्यिकाएं, तीन लाख श्रावक और पाच लाख श्राविकाएं थीं । इन्होंने सम्मेदशिखर से मोक्ष प्राप्त किया ।

सम्भावना-सत्य—जेसी इच्छा रखें वेसा कर सके यह सम्भावना-सत्य कहलाता है । जेसे—इन्द्र इच्छा करे तो जम्बूद्वीप को पलट सकता है यह सम्भावना सत्य है ।

सम्मति-सत्य—वहुत लोगों के द्वारा माना गया जो नाम आदि है वह सम्मति-सत्य कहलाता है । जेसे—राजा की स्त्री को रानी या देवी कहना ।

सम्मूर्च्छन-जन्म—जा स्वयमेव वातावरण में सब ओर से शरीर के योग्य पुद्रगल परमाणुओं को ग्रहण करके जीवों का जन्म होता है वह सम्मूर्च्छन जन्म है । एकेन्द्रिय से लेकर असज्जी पचेन्द्रिय तक सभी तिर्यचों का ओर किन्हीं सज्जी पचेन्द्रिय तिर्यचा व मनुष्यों का भी सम्मूर्च्छन जन्म होता है ।

सम्यक्-चारित्र-ससार की कारणभूत बाह्य और अत्तरग क्रियाओं से निवृत्त होना सम्यक्-चारित्र है। बाह्य और अभ्यतर निवृत्ति की अपेक्षा अथवा निश्चय व व्यवहार की अपेक्षा चारित्र दो प्रकार का है। कर्मों के उपशम आदि की अपेक्षा औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक के भेद से चारित्र तीन प्रकार का है। सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार-विशुद्धि, सूक्ष्म-साम्पराय और यथाख्यात-चारित्र के भेद से चारित्र पाच प्रकार का है। सम्यक्त्वाचरण-चारित्र और स्वरूपाचरण-चारित्र ऐसे दो भेद भी चारित्र के किए गए हैं।

सम्यक्त्व-क्रिया-चैत्य, गुरु और शास्त्र की पूजा आदि रूप सम्यक्त्व को बढ़ाने वाली सम्यक्त्व-क्रिया है।

सम्यक्त्वाचरण-चारित्र-जिनेन्द्र भगवान के प्रति सच्ची श्रद्धा होने पर जो सहज सदाचार रूप क्रिया होती है उसे सम्यक्त्वाचरण-चारित्र कहते हैं।

सम्यग्-मिथ्यात्म-देखिए मिश्रगुणस्थान।

सम्यग्-एकान्त-अनेक धर्मात्मक वस्तु के किसी एक धर्म का प्रधानता से कथन करना और शेष धर्मों का निषेध नहीं करना सम्यग्-एकान्त है।

सम्यग्ज्ञान-सम्यगदर्शन के साथ होने वाले यथार्थ या समीचीन ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहते हैं। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन-पर्ययज्ञान और केवलज्ञान—ये सम्यग्ज्ञान के पाच भेद हैं।

सम्यगदर्शन-सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के प्रति श्रद्धान का नाम सम्यगदर्शन है। अथवा जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहे गए सात तत्त्वों के यथार्थ श्रद्धान को सम्यगदर्शन कहते हैं। अथवा आत्मरूचि होना सम्यगदर्शन

है। अथवा 'स्व-पर' का भेद-विज्ञान हाँना सम्यग्दर्शन है। उत्तिकी अपेक्षा निमग्न और अधिगमज ऐसे सम्यग्दर्शन के दो भेद हैं। नय-विभाग की अपेक्षा निश्चय और व्यवहार ऐसे सम्यग्दर्शन के दो भद हैं। मिथ्यात्म कर्म के उपशम, क्षय या क्षयांपशम की अपेक्षा सम्यग्दर्शन के तीन भेद हैं।

सरस्वती-जिनवाणी को सरस्वती कहते हैं।

सराग-चारित्र-देखिए व्यवहार-चारित्र।

सराग-सम्यक्त्व-देखिए व्यवहार-सम्यग्दर्शन।

सर्वज्ञ-सकल चराचर जगत का पत्यक्ष स्प से जानने वाले अर्हत व सिद्ध भगवान सर्वज्ञ कहलाते हैं।

सर्वार्थसिद्धि-वैमानिक टेबों के पाच अनुत्तर विमानों में से एक विमान का नाम सर्वार्थसिद्धि है। यहा रहने वाले सभी देव अहमिद्र कहलाते हैं और एक भवावतारी होते हैं अर्थात् मरणापरान्त एक मनुष्य भव पाकर मुक्त हो जाते हैं।

सर्वोपधि-ऋद्धि-जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु के शरीर के सब अवयव ओपधि रूप हो जात है वह सर्वोपधि-ऋद्धि है।

सल्लेखना-जीवन का अत निकट जानकर समतापूर्वक देह का परित्याग करना सल्लेखना कहलाती है। सल्लेखना का शक्तिक अर्थ है शरीर और कपाय को क्रमशः क्षीण करना। इसे समाधि-मरण भी कहते हैं। सल्लेखना तीन प्रकार से होती है—भक्त-प्रत्याख्यान, इग्नीमरण और पायोपगमन।

सविपाक-निर्जरा—यथाकाल अर्थात् क्रम से परिपाक काल आने पर शुभाशुभ कर्म की जो फल देकर निवृत्ति होती है वह सविपाक-निर्जरा है।

संकल्प—स्त्री, पुत्र, सम्पत्ति आदि चेतन-अचेतन पदार्थों में ‘ये मेरे हैं’ ऐसी कल्पना करना संकल्प कहलाता है।

संकल्पी-हिंसा—‘मैं इस जीव को मारूँ’—इस प्रकार के विचार से जो हिंसा होती है उसे संकल्पी-हिंसा कहते हैं।

संक्रमण—जो कर्म-प्रकृति पहले जीव के बधी थी उसका अन्य प्रकृति रूप परिणमन हो जाना संक्रमण कहलाता है। जीव के परिणामों के द्वारा पहले बधी हुई कर्म प्रकृति बदलकर अन्य प्रकृति रूप हो जाती है, यही संक्रमण कहलाता है। संक्रमण पाच प्रकार से होता है—उद्देलन-संक्रमण, विद्यात्-संक्रमण, अध प्रवृत्त संक्रमण, गुणसंक्रमण और सर्वसंक्रमण।

संक्लेश—असाता वेदनीय कर्म के वध योग्य परिणाम को संक्लेश कहते हैं। या तीव्र कषाय रूप परिणाम का नाम संक्लेश है।

संक्षेप-सम्यग्दर्शन—जिनागम में कहे गये जीवादि पदार्थों को संक्षेप से सुनकर या जानकर जो सम्यग्दर्शन होता है उसे संक्षेप-सम्यग्दर्शन कहते हैं।

संख्या—सत् प्रस्तुपणा में जो पदार्थों का अस्तित्व कहा गया है उनके प्रमाण का वर्णन करने वाली संख्या है। संख्या से आशय भेदों की गणना से है।

यथाख्यात-चारित्र का घात करती है वह सज्जलन नामक कषाय है। सज्जलन कषाय क्रोध, मान, माया और लोभ के रूप में रहती है। सदंश-आहार के समय यदि साधु को कुत्ता आदि काट ले तो यह सदश नाम का अन्तराय है।

संभिन्न-श्रोतृत्व-ऋद्धि—जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु श्रोत्र-इन्द्रिय के उल्कष्ट क्षेत्र से बाहर दशों दिशाओं में सख्यात योजन प्रमाण क्षेत्र में स्थित मनुष्य और तिर्यचों के बहुत प्रकार के शब्दों को सुनकर उनका एक साथ प्रत्युत्तर देने में समर्थ होता है उसे संभिन्न-श्रोतृत्व-ऋद्धि कहते हैं।

सयत-सम्यग्दर्शन और ज्ञानपूर्वक जो हिसा आदि पाच पापों से पूर्णत विरक्त है, ऐसे महाब्रती साधु को सयत करते हैं। शुभक्रियाओं से युक्त होने पर वह प्रमत्त-सयत और आत्मलीन होने पर अप्रमत्त-सयत कहलाते हैं।

सयतासयत—हिसा आदि पाच पापों का स्थूल रूप से त्याग करने वाले अणुव्रती श्रावक को सयतासयत कहते हैं। अथवा जो भव्य जीव जिनेन्द्र भगवान में श्रद्धा रखता है तथा त्रस जीवों की हिसा से विरत है लेकिन स्थावर जीवों के घात से विरत नहीं है उसे सयतासयत कहते हैं। इसका दूसरा नाम विरताविरत या देशव्रती भी है।

संयम-धर्म—व्रत व समिति का पालन करना, मन-वचन-काय की अशुभ प्रवृत्ति का त्याग करना तथा इन्द्रियों को वश में रखना यह संयम-धर्म है। यह दो प्रकार का है—प्राणि-संयम और इन्द्रिय-संयम। सब जीवों की रक्षा करना प्राणि-संयम है तथा पाचों इन्द्रिय और मन

को नियंत्रित करना इन्द्रिय-सयम है।

सयमोपकरण—साधु के योग्य सयम का पालन करने में सहायक पिच्छिका को सयमोपकरण कहते हैं।

सयोजना-दोष—यदि साधु ठड़ा भोजन गर्म जल से मिला कर ले और ठड़ा जल गर्म भोजन से मिलाकर ग्रहण कर तो यह सयोजना नाम का दोष है।

सरम्भ—हिसा आदि कार्य में प्रयत्नशील होना सरम्भ है।

सवर—आस्वय का निरोध करना सवर कहलाता है। अथवा जिससे कर्म रुके वह कर्मों का रुकना सवर है। यह दो प्रकार का है—भाव सवर और द्रव्य सवर। आत्मा के जो सम्यग्दर्शन व व्रत सयम आदि रूप परिणाम कर्म के आवगमन को रोकने में कारण है उसे भाव-सवर कहते हैं तथा कर्मों का रुकना द्रव्य-सवर है।

सवरानुप्रेक्षा—जिस प्रकार नाव के छिद्र बद रहने पर यात्री सकुशल अपने गतव्य स्थान तक पहुच जाते हैं, उसी प्रकार कर्मों के आने के द्वार को रोक देने पर जीव अपने मोक्ष रूपी लक्ष्य को प्राप्त कर लेते हैं, इस प्रकार सवर के गुणों का बार-बार चिन्तन करना सवरानुप्रेक्षा है।

सवेग—दुखमय ससार के आवगमन से सदा डरते रहना सवेग कहलाता है। अथवा धर्म व धर्म के फल में सदा उत्साह रखना सवेग है। अथवा पच-परमेष्ठी के प्रति प्रीति और धार्मिक जनों में अनुराग रखना सवेग है।

संवेगनी-कथा—पुण्य के फल की चर्चा करना संवेगनी-कथा है। यह कथा धर्म और धर्म के फल में अनुराग उत्पन्न करने वाली है।

संवौषट्—जिनेन्द्र भगवान की पूजा करते समय आह्वानन के लिए संवौषट् नामक बीजाक्षर बोला जाता है। यह आमत्रण-वाचक बीजाक्षर है।

संव्यवहरण-दोष—साधु को आहार देने के लिए वर्तन आदि को शीघ्रता से बिना देखे उठाना संव्यवहरण-दोष है।

संशय—वस्तु के विषय में विरुद्ध अनेक धर्मों में से किसी एक का निश्चय नहीं कर पाना और सदेह में पड़ जाना सशय कहलाता है। जैसे—‘यह सीप है या चादी है’—ऐसा सदेह होना।

संशय-मिथ्यात्व—‘सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये तीनो मिलकर मोक्षमार्ग हैं या नहीं’—इस प्रकार किसी एक पक्ष का निश्चय नहीं होना संशय-मिथ्यात्व है। अथवा देव और धर्म के स्वरूप में ‘यह ठीक है या नहीं’ ऐसा निर्णय नहीं होना संशय-मिथ्यात्व है।

संश्लेष-सम्बन्ध—जो स्निग्ध वस्तुओं का या स्निग्ध और रुक्ष वस्तुओं का परस्पर बध होता है वह संश्लेष सम्बन्ध है। जैसे—लाख व काष्ठ आदि का अथवा दूध और जल का परस्पर संश्लेष-सम्बन्ध है। इसी प्रकार अनादि काल से जीव और कर्म का परस्पर संश्लेष-सम्बन्ध है।

संसक्त—जो साधु मन्त्र, वैद्यक और ज्योतिष से अपनी जीविका करता है और राजा आदि की सेवा करता है उसे संसक्त कहते हैं।

सात्त्विक-दान—जिस दान से अतिथि का हित हो, जिसमें सुपात्र का निरीक्षण स्वयं दाता के द्वारा किया गया हो और दाता में श्रद्धा आदि समस्त गुण हो वह सात्त्विक-दान है।

सादि-मिथ्यादृष्टी—सम्यग्दर्भन का प्राप्त करने के उपरान्त जाँ जीव गिरकर पुन मिथ्यादृष्टि हो जाता हे उसे सादि-मिथ्यादृष्टी कहते हे।

साधक—जा श्रावक जीवन के अत में शरीर, आहार आदि से ममत्व छोड़कर आत्म-शुद्धि के लिए समाधिमरण की साधना करता हे उसे साधक कहते हे।

साधन—1 जिसकी साध्य के साथ अन्वयानुपपत्ति हे उसे साधन कहते हे। आशय यह हे कि साध्य के होने पर ही होना और साध्य के अभाव में नहीं होना—ऐसी साध्य के साथ जिसकी व्याप्ति हे वह साधन हे। 2 जिस निमित्त से वस्तु उत्पन्न होती हे वह साधन हे। इसे कारण भी कहते हैं।

साधारण-वनस्पति—जो एक शरीर वहुत जीवों का होता हे वह साधारण- शरीर कहलाता हे। ऐसा साधारण-शरीर जिन जीवों का है वे साधारण-जीव कहलाते हे। साधारण शरीर मे रहने वाले सभी जीवों का जन्म, मरण, श्वासोच्छ्वास और आहार आदि एक साथ होता हे। जिस वनस्पति के आश्रित साधारण-जीव होते हैं वह साधारण-वनस्पति कहलाती हे। प्रतिष्ठित-प्रत्येक-वनस्पति भी साधारण जीवों के द्वारा आश्रित होने के कारण उपचार से साधारण होती हे। किसी वृक्ष की जड साधारण होती हे, किसी का स्कन्ध, किसी की शाखाए, किसी के पत्ते, किसी के फूल, किसी के पर्व का

दूध और किसी के फल साधारण होते हैं। इस तरह किसी-किसी वृक्ष के मूल, पत्ते, स्कन्ध, फल, फूल आदि अलग-अलग साधारण होते हैं और किसी के मिले हुए पूर्ण रूप से साधारण होते हैं। मूली, अदरक, आलू, अरवी आदि सब मूल अर्थात् जड़े साधारण हैं। गन्ने के पर्व साधारण हैं। वृक्षों पर लगी कोपले सब साधारण हैं। पाच उदुम्बर-फल और ग्वाँफाठा की शाखाएं साधारण हैं। चना, मेथी, वथुआ, पालक आदि कोई-कोई साधारण हैं।

साधारण-शरीर-जिस कर्म के उदय से बहुत जीवों के उपभोग के लिए एक ही साधारण शरीर होता है उसे साधारण-शरीर-नामकर्म कहते हैं।

साधु-निर्ग्रथ मुनि को साधु कहते हैं। जो घर-गृहस्थी सम्बन्धी समस्त आरम्भ परिग्रह और विषय-वासना का त्याग करके रत्नत्रय की आराधना करते हुए समिति जीवन जीते हैं वे साधु हैं। साधु के अद्वाइस मूलगुण होते हैं—पाच महाव्रत, पाच समिति, पाच इन्द्रिय-विजय, छह आवश्यक, अस्नान, अदन्तधोवन, भूमि-शयन, केशलुचन, स्थिति-भोजन, एक-भक्त और अचेलकत्व।

साधु-समाधि-व्रत व शील से सम्पन्न साधु के तप मे किसी कारण से विघ्न आने पर उसे दूर करना साधु-समाधि कहलाती है। यह सोलह कारण भावना मे एक भावना है।

सामायिक-समता-भाव रखना सामायिक है। अथवा सर्व साध्य योग से निवृत्त होना सामायिक है। श्रावक और साधु दोनों को सामायिक करना आवश्यक है। श्रावक प्रतिदिन नियतकाल पर्यन्त व्रत या प्रतिमा के रूप मे सामायिक का अभ्यास करता है। साधु का जीवन

ही समतामय हे फिर भी वह सदा समता रूप सामायिक-चारित्र का पालन करता हुआ प्रतिदिन सध्याकालो मे सामायिक नामक आवश्यक को विधिवत सम्पन्न करता है। नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से सामायिक छह प्रकार की हे। सामायिक प्रतिदिन सुबह, दोपहर और शाम इन तीनो सध्याकालो मे कम से कम दो घंटी अर्थात् अड़तालीस मिनिट और अधिकतम छह घंटी तक की जाती हे। सामायिक का प्रारभ और समापन करते समय प्रत्येक दिशा मे तीन-तीन आवर्त, एक-एक प्रणाम व एक-एक कायोत्सर्ग करना चाहिए तथा पूर्व या उत्तरमुख करके खडे होकर या बैठकर प्रसन्नतापूर्वक सामायिक करना चाहिए।

सामायिक-चारित्र-सर्व सावद्य योग से निवृत्त होना और सदा समता-भाव रखना सामायिक-चारित्र है।

सामायिक-प्रतिमा-व्रत-प्रतिमा नामक दूसरी प्रतिमा धारण करने के उपरान्त विधिपूर्वक तीनो सध्याओ मे सामायिक करने की प्रतिज्ञा लेना यह श्रावक की तीसरी सामायिक-प्रतिमा कहलाती है।

सामायिक-व्रत-प्रतिदिन सध्याकालो मे कम से कम दो घंटी पर्यन्त समस्त पाप कार्यो का त्याग करके पचपरमेष्ठी का विन्तन करने की प्रतिज्ञा लेना सामायिक नाम का शिक्षाव्रत है।

सामायिक-श्रुत-समता-भाव के विधान का वर्णन करने वाला सामायिक नाम का अङ्गवाद्य-श्रुत है।

साम्परायिक-आस्त्रव-सम्पराय का अर्थ कषाय हे। कषाय सहित होने वाले आस्त्रव को साम्परायिक-आस्त्रव कहते है।

सावद्य—मन, वचन व काय के द्वारा होनेवाली हिसाजनक क्रिया को सावद्य कहते हैं। कृपि, व्यापार आदि छह सावद्य कर्म माने गए हैं। पूजा, अभिषेक आदि यद्यपि सावद्य है परन्तु धर्मध्यान में सहकारी और पुण्य रूप होने से श्रावक के लिए ग्राह्य है।

सासादन-सम्यक्त्व—उपशम-सम्यक्त्व से पतित होकर जीव जब तक मिथ्यात्म में नहीं आता तब तक उसे सासादन-सम्यगृष्टी जानना चाहिए। यह सासादन-सम्यक्त्व नामक दूसरा गुणस्थान है।

साव्यवहारिक-प्रत्यक्ष—इन्द्रिय और मन के द्वारा जो ज्ञान होता है उसे साव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं। लोक-व्यवहार में इसे प्रत्यक्ष कहा है परन्तु यह परोक्ष-ज्ञान है।

सिद्ध—समस्त आठ कर्मों के बन्धन को जिन्होंने नष्ट कर दिया है ऐसे नित्य निरजन परमात्मा ही सिद्ध कहलाते हैं।

सिद्धि—सिद्धि का अर्थ प्राप्ति या उपलब्धि है। आत्मस्वरूप की प्राप्ति होना सिद्धि है। अथवा जो जीवों के हित की साधक होती है उसे सिद्धि कहते हैं।

सुख—सुख आहार रूप होता है। वह दो प्रकार का है—इन्द्रिय-सुख और अतीन्द्रिय-सुख। इन्द्रिय-विषयों में प्रीति का अनुभव होना इन्द्रिय-सुख है। आत्म-स्वरूप के अनुभव से उत्पन्न और रागादि विकल्पों से रहित निराकुलता रूप अतीन्द्रिय सुख है।

सुन्दरी—तीर्थकर ऋषभदंव की पुत्री थी। अपने पिता में इन्होंने अकविद्या सीखी। अत्य-वय में ही विरक्त होकर भगवान ऋषभदंव

स दीक्षा लेकर आर्यिका का पद पाया ।

सुपार्थनाथ—सातव तीर्थकर । वाराणसी नगरी के राजा सुप्रतिष्ठ की रानी पृथिवीपंडा के यहा इनका जन्म हुआ । इनकी आयु बीस लाख वर्ष पूर्व की थी । शरीर दो मास धनुष ऊचा था । शरीर का वर्ण प्रियगु पुष्प के समान था । एक दिन अचानक इन्हें वैराग्य हुआ और जिनदीक्षा ले ली । नो वर्ष की कठिन तपस्या के उपरान्त इन्हें कवलज्ञान हुआ । इनके सघ में पचानव गणधर, तीन लाख मुनि, तीन लाख तीस हजार आर्यिकाएँ, तीन लाख श्रावक और पाच लाख श्राविकाएँ थीं । इन्होंने सम्प्रदशिखर से माझ प्राप्त किया ।

सुभग-नामकर्म—जिस कम के उदय स अन्यजन प्रीतिकर अवस्था प्राप्त होती है वह सुभग-नामकर्म है । अधदा स्त्री ओर पुरुषों के मोभाग्य का उत्पन्न करनेवाला सुभग-नामकर्म है ।

सुमतिनाथ—पाचव तीर्थकर । आयोध्या नगरी के राजा मेघरथ और रानी मगला के यहा जन्म लिया । इनकी आयु चालीस लाख वर्ष पूर्व थी । शरीर तीन मोस धनुष ऊचा और स्वर्ण के समान कान्तिवाला था । राज्य करते हुए एक दिन अचानक इन्हे वैराग्य उत्पन्न हुआ और जिनदीक्षा ले ली । बीस वर्ष की कठिन तपस्या के उपरान्त इन्हें कवलज्ञान हुआ । इनके सघ में एक सौ सोलह गणधर, तीन लाख बीस हजार मुनि, तीन लाख तीस हजार आर्यिकाएँ, तीन लाख श्रावक और पाच लाख श्राविकाएँ थीं । इन्होंने सम्प्रदशिखर से मोक्ष प्राप्त किया ।

सुमेरु—यह मध्यतोक का प्रसिद्ध पर्वत है। जो विटेह क्षेत्र के मध्यभाग में स्थित है। यह पर्वत तीर्थकरों के जन्माभिषेक की पीठिका के रूप में प्रसिद्ध है क्योंकि इसके शिखर पर पाण्डुक वन में स्थित पाण्डुक शिला आदि चार शिलाओं पर भरत, ऐरावत तथा विटेह क्षेत्र सम्बन्धी सभी तीर्थकरों का जन्माभिषेक होता है। इसके मेरु, महामेरु, मन्दर और सुदर्शन आदि अनेक नाम हैं। जम्बूद्वीप में एक, धातकी खण्ड में दो और पुष्करार्ध द्वीप में दो ऐसे कुल पाच मेरु हैं। प्रत्येक मेरु पर सोलह जिनालय होने से पचमेरु सम्बन्धी कुल अस्सी जिनालय है।

सुषमा—अवसर्पिणी के द्वितीय-काल और उत्सर्पिणी के पचम-काल का नाम सुषमा है। अवसर्पिणी के इस द्वितीय काल में मनुष्यों की ऊचाई दो कोस और आयु दो पल्य होती है। मनुष्य दो दिन छोड़कर तीसरे दिन वहेडा के वरावर आहार ग्रहण करते हैं। इस काल में उत्पन्न वालक-वालिका का युगल शश्या पर सौते हुए पाच दिन व्यतीत करता है फिर शेष सभी योग्यताएँ क्रमशः पाच-पाच दिन व्यतीत होने पर प्राप्त होती हैं और ऐतीस दिन में पूर्ण योवन और कला से सम्पन्न हो जाता है। इसके अतिरिक्त शेष सभी वातं सुषमा-सुषमा काल के समान होती है। तीन कंडा-कोडी सागर प्रमाण इस सुषमा काल में मनुष्यों की आयु, वल, ऊचाई आदि उत्तरोत्तर घटती जाती है। उत्सर्पिणी के सुषमा नामक पचम काल में मनुष्यों की आयु, वल, ऊचाई आदि क्रमशः बढ़ती जाती है और शेष सभी वातं अवसर्पिणी के मुषमा नामक द्वितीय काल के समान हैं।

सुषमा-दुषमा—अवसर्पिणी के तृतीय काल और उत्सर्पिणी के

चतुर्थकाल का नाम सुषमा-नुपमा है। अवसर्पिणी के इस तृतीय काल में मनुज्या की ऊचाई एक कोस और आयु एक पल्य होती है। मनुष्य एक दिन छाड़कर दूसरे दिन आवला के वरावर आहार ग्रहण करते हैं। इस काल में उत्पन्न वालक-वालिका का युगल शश्या पर साते हुए सात दिन व्यतीत करता है। फिर शय सभी योग्यताएं क्रमशः सात-सात दिन व्यतीत होने पर प्राप्त होती है और उनचास दिन में पूण योग्यन और कला से सम्पन्न हो जाता है। इसके अतिरिक्त शेष सभी वातं सुषमा-सुषमा नामक प्रथम काल के समान होती है। तीन क्रांड-क्रोडी-भाग ग्रामाण इस तृतीय काल में मनुज्यों की ऊचाई, वय और आयु उत्तरोत्तर घटते जाते हैं। जब इस तृतीय काल में पल्योपम के आठवें भाग मात्र काल शय रह जाता है तब कुलकरों को उत्पत्ति प्रारम्भ होती है और क्रमशः चोटह कुलकर होते हैं। अंतिम कुलकर की आयु एक कोटि वर्ष पूर्व आर शरीर की ऊचाई पाच सौ धनुष होती है। उस समय कल्पवृक्ष नष्ट हो जाते हैं। यही भोगभूमि के समाप्त और कमभूमि के पारम का काल है। उत्सर्पिणी के इस चतुर्थकाल के प्रारम्भ में मनुज्यों की आयु एक कोटि वर्ष पूर्व होती है और ऊचाई पाच सौ धनुष पमाण होती है। जो क्रमशः बढ़ती जाती है इस काल में कल्पवृक्षों की उत्पत्ति हो जाती है और शेष सभी वातं अवसर्पिणी के तृतीय काल के समान होती है। अत ये मनुज्यों की आयु बढ़ते-बढ़ते एक पल्य और ऊचाई एक कोस तक हो जाती है।

सुषमा-सुषमा-अवसर्पिणी के प्रथम काल और उत्सर्पिणी के छठवें काल का नाम सुषमा-सुषमा है। अवसर्पिणी के इस प्रथम काल में भूमि धूल, धूम, कटक आदि से रहित होती है। चौटी, विच्छू, मक्खी

आदि विकलत्रय जीवों की उत्पत्ति नहीं होती है। मधुर गध वाली मिट्ठी और अच्छे प्रकार की धास होती है। निर्मल जल से युक्त सरोवर और नदिया होती है। असज्जी जीव और परस्पर देर रखने वाले हिसक जीव नहीं होते। दुराचार और व्यसन नहीं होते। इस काल में उत्पन्न होने वाले मनुष्यों की जभाई तीन कांस और आयु तीन पल्य होती है। इनके शरीर मलमूत्र और पसीने से रहित तथा अत्यत सुदर, सुदृढ़ और सुडोल होते हैं। इस काल में उत्पन्न होने वाले वालक-वालिका के युगल शब्द पर सोते हुए तीन दिन व्यतीत करते हैं फिर बेठना, अस्थिर गमन, स्थिर गमन, कलागुणों की प्राप्ति, तारुण्य और सम्यग्दर्शन प्राप्ति की योग्यता—इन प्रत्येक अवस्थाओं में क्रमशः तीन-तीन दिन व्यतीत करके डक्कीस दिन में पूर्ण योवन और कला से सपन्न हो जाते हैं। इस काल में परिवार, ग्राम, नगर आदि नहीं होते। केवल दस पकार के कल्पवृक्ष होते हैं जो प्रत्येक युगल को अपने-अपने भन की कल्पित वस्तुएँ दिया करते हैं। कल्पवृक्षों से प्राप्त वस्तुओं को ग्रहण करके और विक्रिया के द्वारा भी अनेक प्रकार के भोगों को भोगते हुए यहाँ के जीव चक्रवर्ती के भोगों की अपेक्षा अनन्तगुणा विषय-सुख पाते हैं। मनुष्य तीन दिन के अतराल से चोथे दिन देर के बराबर अल्पाहार ग्रहण करते हैं। मनुष्य की नो माह की आयु शेष रहने पर स्त्रियों को गर्भ रहता है और युगल वालक-वालिका का जन्म होता है। सतान का जन्म होत ही माता-पिता का मरण हो जाता है। मरण के समय पुरुष को छोक और स्त्री को जभाई आती है और शरीर में भ के भमान विलीन हो जाता है। इस काल में गाय, मिह, हाथों आदि उत्तम निर्यतों के युग्म परम्पर नर भाव के बिना मधुर घाम को खासा मुखपूर्द्धम त्रीछन

व्यतीत करते हैं। चार काढ़कोड़ी सागर प्रपाण डस प्रथम काल में शरीर की ऊचाड़, आयु, वन आदि उत्तरात्तर बढ़ते जाते हैं। उत्सर्पिणी के सुपमा-सुपमा नामक डस लटव काल में श्रेष्ठ सभी वातं अवसर्पिणी के सुपमा-सुपमा नामक प्रथम काल के समान होती है। विशेषता यह है कि उत्सर्पिणी-काल में आयु, वन, ऊचाई आदि उत्तरात्तर बढ़ती जाती हैं।

सुख्यर-नामकर्म—जिस कर्म के उदय से मधुर आवाज या सुरीला कठ पाप्न होता है उसे सुख्यर-नामकर्म कहते हैं।

सूख्य—१. जो परस्पर और अन्य श्यूल म्कधों के साथ व्याधात या व्याधों को प्राप्त नहीं होता है वे सूख्य-म्कध हैं जेसे कर्म वर्गणा आदि।
२. जिनकी गति का जल, म्यल आदि के द्वारा प्रतिधात नहीं होता वे सूख्य-जीव हैं।

सूक्ष्मक्रियाअप्रतिपाती—यह शुक्ल ध्यान की तीसरी अवस्था है। जिन्होंने द्वितीय शुक्ल ध्यान के द्वारा चार धातिया कर्मों का क्षय करके केवल ज्ञान प्राप्त कर लिया है ऐसे केवली भगवान जब आयु का अन्तमुहूर्त काल श्रेष्ठ रहता है तब सब प्रकार के वचनयोग, मनोयोग और वादर काययोग का निरोध करके सूक्ष्म काययोग का आलवन लेकर जो ध्यान करते हैं वह सूक्ष्मक्रियाअप्रतिपाती-ध्यान है।

सूक्ष्मत्व-इन्द्रिय गोचर न होना सूक्ष्मत्व गुण है। यह सिद्धों के आठ मूलगुणों में एक है जो नामकर्म के क्षय होने पर प्रगट होता है।

सूक्ष्म-नामकर्म—जिसके उदय से जीव को सूक्ष्म शरीर प्राप्त होता है उसे सूक्ष्म नामकर्म कहते हैं।

सूक्ष्म-साम्पराय-सूक्ष्म कथाय को सूक्ष्म-साम्पराय कहते हैं। जिस चारित्र में कथाय अति सूक्ष्म हो जाती है वह सूक्ष्म-साम्पराय-चारित्र है। मोहकर्म का उपशमन या क्षण करने वाले जिस साधु के मात्र सञ्चलन-लोभ रूप सूक्ष्म कथाय शेष रह जाती है वह सूक्ष्म-साम्पराय-सयत कहलाता है।

सूक्ष्म-सूक्ष्म-पुद्गत के मात्र दो परमाणु रूप स्कंध को सूक्ष्म-सूक्ष्म कहते हैं।

सूक्ष्म-स्थूल-जो आख से दिखाई नहीं देते किन्तु शेष चार इन्द्रियों से ग्रहण किये जा सकते हैं ऐसे स्कन्धों को सूक्ष्म-स्थूल कहते हैं। जैसे—वायु, शब्द, गन्ध आदि।

सूतक-लोक व्यवहार में जन्म-मरण के निमित्त से हुई अशुद्धि के शोधन को सूतक कहते हैं। सूतक काल में देव-पूजा, आहार-दान आदि कार्य नहीं किया जाता।

सूत्र-1 जो ग्रन्थ, तन्तु ओर व्यवस्था इन तीन अर्थों को सूचित करता है उसे सूत्र कहते हैं। या जो भले प्रकार से अर्थ को सूचित करे उस वहुअर्थ गर्भित रचना को सूत्र कहा जाता है। 2 ‘जीव अकर्ता ही है’, ‘अभोक्ता ही है’, ‘सर्वगत ही है’ इत्यादि कल्पनायुक्त तीन सो तिरेसठ मिथ्या मतों का जिसमें वर्णन किया गया है वह सूत्र नाम का दृष्टिवाद अङ्ग का एक भेद है।

सूत्रकृताङ्ग-‘क्या कल्प हे और क्या अकल्प है’ तथा छेदोपस्थापना आदि व्यवहार धर्म की क्रियाओं का जिसमें वर्णन है वह सूत्रकृताङ्ग है।

सूत्र-गम्यादर्शन-मुनिया के दीक्षादि का वर्णन करने वाले आचारान्त्रिक आदि आचार-सूत्र को मुनकर जो सम्बन्धित हाता है उसे **सूत्र-गम्यादर्शन** कहते हैं।

सूना-आखली, चक्की, घृन्हा, वृहागी और जल रखने का स्थान—ये गृहस्थ्य के उपयोग में आन वाले पच-सूना हैं। आहार शुद्धि के लिये इन पाच ग्याना को व्यवहृत तथा जीव-जन्म से गहित रखना आवश्यक है।

सूर्य-प्रज्ञप्ति-जिसम सूर्य की आयु, परिवार, गति, विष्णु की ऊचाई आदि का वर्णन हे उसे सूर्य-प्रज्ञप्ति कहते हैं।

र्णाम्या-वाचना-व्याकरण सबवीं दोषों की ओर व्यान न देते हुए सरल आग मुताव ब्राख्या करना र्णाम्या-वाचना है।

स्कन्ध-जिन परमाणुओं में परम्पर वध हो चुका है वे स्कन्ध कहलाते हैं या स्थूल स्थप स पकड़न, रखने आदि स्पष्ट व्यापार जिनमें हे वे स्कन्ध हैं। पृथ्वी, जल, प्रकाश, छाया आदि सभी पुद्गल स्कन्ध हैं। स्कन्ध के छह भूदि हैं—स्थूल-स्थूल, स्थूल, स्थूल-सूक्ष्म, सूक्ष्म-स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्म-सूक्ष्म।

स्तव-चाँचीस तीर्थकरों के गुणों का कीर्तन करना स्तव कहलाता है। इसे चतुर्विंशति स्तवन या स्तुति भी कहते हैं। नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव—ये छह स्तव के भेद हे।

स्तिवुक सक्रमण-गति, जाति आदि पिड प्रकृतियों के उदय आने पर शंप अनुदय प्राप्त प्रकृतिया जो उसी प्रकृति में सक्रिय होकर उदय में आती है उसे स्तिवुक-सक्रमण कहते हैं। जेसे—एकेन्द्रिय जीवों के

उदय प्राप्त एकेन्द्रिय जाति नामकर्म मे अनुदय प्राप्त द्वीन्द्रिय जाति आदि का सक्रमित होना ।

स्थानगृह्णि-जिसके निमित्त से स्वप्न अवस्था मे विशेष शक्ति प्रगट होती हे और जीव सोता हुआ भी कार्य करता है उसे स्थानगृह्णि कहते हे ।

स्त्री-परीषह-जय-एकान्त उद्यान या भवन आदि स्थानो मे यौवन से उन्मत्त स्त्रियो के द्वारा वाधा पहुचाये जाने पर भी जो साधु कामविकार से विचलित नही होता उसके यह स्त्री-परीषह-जय कहलाता है ।

स्त्री-वेद-जिस कर्म के उदय से पुरुष के प्रति मैथुन या कामसेवन का भाव होता हे वह भाव स्त्री-वेद कहलाता है ।

स्थलगता-चूलिका-जिसमे पृथिवी के भीतर गमन करने के कारणभूत मन्त्रन्त्र और तपश्चरण का और वास्तुविद्या तथा भूमि सवधी अन्य शुभाशुभ के कारणो का वर्णन किया हे उसे स्थलगता-चूलिका कहते हे ।

स्थविर-कल्प-समस्त वस्त्र आदि परिग्रह का परित्याग करके दिगम्बर होना, पिच्छी कम्पडलु रखना, पाच महाव्रत, पाच समिति, पाच इन्द्रिय विजय आदि अद्वाइस मूलगुणो को धारण करना, हीन सहनन होने के कारण गाव, नगर आदि मे रहना, जिसमे चारित्र भग न हो ऐसे उपकरणो को रखना, जो जिसके योग्य हो उसे पुस्तक देना, समुदाय के रूप मे विहार करना, भव्यो को धर्म सुनाना व शिष्यो का पालन करना, यह सब हीन सहनन वाले साधुओ के योग्य स्थविर-कल्प हे ।

स्थिति-१ किसी क्षेत्र में स्थित पदार्थ की काल मर्यादा निश्चित करना स्थिति है। २ कर्म रूप से परिणत हुए पुद्गल स्कंधो का कर्मपने को न छोड़ते हुए जीव के साथ रहना स्थिति है। ३ आयु कर्म के उदय से जीव का उस भव विशेष में शरीर के साथ रहना स्थिति कहलाती है।

स्थितिकरण-धर्म से विचलित होते हुए जीवों को या स्वय को धर्म में पुन दृढ़ करना स्थितिकरण अङ्ग है। यह सम्बन्धित जीव का एक गुण है।

स्थिति-बध-अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते हुए जितने काल तक कर्म आत्मा के साथ बधे रहते हैं उसे स्थिति-बध कहते हैं। मोहनीय कर्म की उल्कृष्ट स्थिति ७० कोडा-कोडी सागर तथा जघन्य स्थिति अत्मुहूर्त है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और अतराय की उल्कृष्ट स्थिति ३० कोडा-कोडी सागर तथा जघन्य स्थिति अत्मुहूर्त (सिर्फ वेदनीय की जघन्य स्थिति १२ मुहूर्त) है। नाम व गोत्र कर्म की उल्कृष्ट स्थिति २० कोडा-कोडी सागर और जघन्य स्थिति ८ मुहूर्त है। आयु कर्म की उल्कृष्ट स्थिति ९३ सागर एवं जघन्य स्थिति अन्तमुहूर्त है।

स्थिति-भोजन-दोवाल आदि का सहारा न लेकर स्वय स्थिर खड़े रहकर अपनी अजली में आहार ग्रहण करना स्थिति-भोजन कहलाता है। यह साधु का एक मूलगुण है।

स्थिर-नामकर्म-जिस कर्म के उदय से उपवास आदि तप करने पर भी शरीर में वात, पित्त व कफ की स्थिरता बनी रहती है ओर शरीर

कमज़ोर या अग्रजन नहीं तोता उग मिहर-नामकर्म कहते हैं।

स्थूल-ना दृश्यन-गदन करन पर स्वयं जुड़ मरते हैं ऐसे थों, तेल, पानी आदि स्थूल स्फुट रखनाते हैं।

स्थूल-रूप-जा नभु इन्द्रिय के द्वाग ग्राहा होकर भी अन्य इन्द्रियों से ग्रहण नहीं होता जा दृश्यन और लाया, वृप, चारनों आदि स्थूल-सूक्ष्म स्फुट करनात है।

स्थूल-स्थूल-जा दृश्यन पर स्वत नहीं जुड़ मरते ऐसे काष्ठ-पत्थर आदि स्थूल-स्थूल स्फुट रखनाते हैं।

स्नातक-जिनक शारिया कम नष्ट हो चुके हैं ऐसे अर्हन्त मणवान स्नातक रखनाते हैं।

स्पर्शन-। जिसक द्वाग स्पर्श होता है उसे स्पर्शन इन्द्रिय कहते हैं। २ जीव का नोना काल मे झ़हा तक जाना-आना समव है यह स्पर्शन नाम का अनुवाग-द्वार है।

स्पर्शन-क्रिया-प्राणवश स्पर्श करने याँग्य सचेतन वस्तु का अनुवध स्पर्शन-क्रिया है।

स्पर्श-नामकर्म-जिस कर्म के उदय से शरीर मे ठड़ा, गरम आदि स्पर्श उत्पन्न होता है उस स्पर्श नामकर्म कहते हैं। यह आठ प्रकार का है-भिन्न, स्क्ष, मृदु, कठोर, शीत, उण, हल्का ओर भारी।

स्याद्वाद-स्यात् का अद्य है सापेक्ष या कथोचित्। वाद का अर्द्ध है कथन। अत अनेक धर्मात्मक वस्तु के पत्वेक धर्म का सापेक्ष रूप से कथन करन की शोली का नाम स्याद्वाद है।

स्वच्छन्द-देखिए मृगचारी ।

स्वदार-सन्तोषब्रत-अपनी विवाहित स्त्री में ही सतुष्ट रहना और शेष स्त्रियों के प्रति माता, वहिन और पुत्रीवत् निर्मल भाव रखना स्वदार सतोषब्रत कहलाता है । इसे ब्रह्मचर्याणुब्रत भी कहते हैं ।

स्वप्न-निमित्त-स्वप्न के माध्यम से शुभाशुभ को जान लेना स्वप्न-निमित्त-ज्ञान कहलाता है ।

स्वभाव-वस्तु का असाधारण और शाश्वत धर्म ही उसका स्वभाव कहलाता है । जैसे—जीव का स्वभाव चेतना या जानना-देखना है ।

स्वभाव-पर्याय-‘पर’ निमित्त के बिना जो पर्याय होती है वह स्वभाव पर्याय कहलाती है । जैसे—जीव की सिद्ध पर्याय स्वभाव पर्याय है ।

स्वयंभू—जो जीव परोपदेश के बिना स्वय ही मोक्षमार्ग को प्राप्त कर लेते हैं उन्हे स्वयंभू या स्वयंवृद्ध कहते हैं ।

स्वयंभूरमण-मध्यलोक के अंतिम ढीप और अंतिम समुद्र का नाम स्वयंभूरमण है । स्वयंभूरमण समुद्र में सज्जी पचेन्द्रिय जलचर जीव पाए जाते हैं ।

स्वर-निमित्त-मनुष्य व तिर्यचों के विचित्र शब्दों को सुनकर शुभाशुभ को जान लेना स्वर-निमित्त-ज्ञान कहलाता है ।

स्वरूपाचरण-चारित्र-समस्त रागद्वेष से रहित अपने आत्मस्वरूप में लीनता रूप चारित्र को स्वरूपाचरण-चारित्र कहते हैं । यह निर्विकल्प समाधि का अविनाभावी है ।

स्वर्ग—उर्ध्वलोक मे रहने वाले वेमानिक देवों के निवास स्थान को स्वर्ग कहते हैं। स्वर्ग के दो विभाग हे—कल्प ओर कल्पातीत।

स्वस्तिक—**ॐ** यह पवित्र ओर कल्याणकारी चिह्न हे। इसका उपयोग मगल कार्यों मे होता हे।

स्वस्थान अप्रमत्त—देखिए अप्रमत्त।

स्वहस्त-क्रिया—जो क्रिया दूसरों के द्वारा करने की हो उसे स्वय अपने हाथ से कर लेना स्वहस्त-क्रिया है।

स्वातिसस्थान-नामकर्म—स्वाति का अर्थ सर्प की वाम्बी या शाल्मली वृक्ष हे। जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर स्वाति के समान आकार का होता हे उसे स्वाति-सस्थान-नामकर्म कहते हैं।

स्वाद्य—मुख का स्वाद बदलने के लिये खाये जाने वाले लोग, इलायची आदि पदार्थ स्वाद्य कहलाते हैं।

स्वाध्याय—आत्महित की भावना से सत्-शास्त्र का वाचन करना, मनन करना या उपदेश आदि देना स्वाध्याय हे। अथवा आलस्य छोड़कर ज्ञान की आराधना में तत्पर रहना स्वाध्याय नाम का तप है। स्वाध्याय के पाच भेद हे—वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश।

स्वामित्व—स्वामित्व का अर्थ आधिपत्य हे। अथवा स्वामी का अर्थ अधिष्ठाता या प्रयोक्ता है।

स्वाहा—यह शान्तिवाचक वीजाक्षर है। पूजा मे द्रव्य चढ़ाते समय इसका प्रयोग किया जाता हे।

ह

हास्य—जिस कर्म के उदय से जीव के हास्य (हसी) रूप भाव उत्पन्न होता है उसे हास्य कहते हैं।

हिंसा—प्रमाद के वशीभूत होकर जीव के प्राणों का वियोग करना या उसे पीड़ा पहुचाना हिंसा है। सकल्पी, आरम्भी, विरोधी और उद्योगी—ऐसी चार प्रकार की हिंसा है। द्रव्य-हिंसा और भाव-हिंसा, इन दो रूपों में हिंसा होती है। मारना या पीड़ा पहुचाना द्रव्य-हिंसा है तथा मारने या पीड़ा पहुचाने का विचार करना भाव-हिंसा है।

हिंसादान—हिंसा के कारणभूत अस्त्र-शस्त्र, अग्नि आदि उपकरणों को देना हिंसादान नामक अनर्थदण्ड है।

हिंसानन्दी-रोदध्यान—तीव्र कषाय के वशीभूत होकर जीवसमूह को स्वयं मारने में या दूसरे के द्वारा मारे जाने में हर्षित होना और सदा हिंसा के कार्यों में मन लगाए रखना हिंसानन्दी नामक रोदध्यान है।

हुण्डक-संस्थान—विषम या बेडौल आकृति को हुड़ कहते हैं। जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर बेडौल होता है उसे हुण्डक शरीर-संस्थान नामकर्म कहते हैं।

हुण्डावसर्पिणी—असख्यात अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी काल बीत जाने पर एक हुण्डावसर्पिणी काल आता है। इसमें कई बातें असामान्य होती हैं। जैसे—तृतीय काल में तीर्थकर व चक्रवर्ती का उत्पन्न होना, चक्रवर्ती का मान भग होना, तीर्थकर पर उपसर्ग होना, अयोध्या के सिवाय अन्यत्र भी तीर्थकरों का जन्म होना, सम्मेदशिखर के अलावा

अन्य स्थानों से तीर्थकर का माला जाना आदि ।

हेय-जा पदार्थ छोड़ने यांग्य हैं वे हेय कहलाते हैं ।

हीं-यह चौबीस तीर्थकर वाचक वीज-पद है । यह एकाक्षरी मत्र है ।
पदस्थ ध्यान में इसका उपयोग होता है । इसे मायावीज भी कहते हैं ।

परिशिष्ट

- चौसठ क्रद्धियां—

1. बुद्धि क्रद्धि (18)

केवलज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्यज्ञान, वीज-बुद्धि, कोष्ठ-बुद्धि, पदानुसारी, संभिन्नश्रोतृत्व, दूरस्थादित्व, दूरस्पर्शत्व, दूरदर्शित्व, दूरघाणत्व, दूरथवणत्व, अभिन्नदशपूर्वित्व, चतुर्दशपूर्वित्व, अष्टाग-महानिमित्त, प्रज्ञाश्रमण, प्रत्येक-बुद्धि, वादित्व

2. विक्रिया क्रद्धि (20)

क्रिया क्रद्धि और विक्रिया क्रद्धि क्रिया क्रद्धि-चारण और आकाशगमित्व चारण क्रद्धि (8)—जघा-चारण, तन्तु-चारण, फल-चारण, आकाश-चारण, मध्य-चारण, अग्नि-चारण, मास्त-चारण, ज्योतिष-चारण विक्रिया क्रद्धि (11)—अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्नि, प्राकाश्य, इशित्व, वशित्व, अप्रतिघात, अन्तर्धान, कामरूपित्व

3. तप क्रद्धि (7)

उग्रतप, धोरतप, धोरपग्रन्म, धोर व्रतचर्य, तप्त तप, दीप्त तप, महातप

4. वल क्रद्धि (१)

रन-वल, वचन-वल, क्षाय-वल

5 औपथ ऋद्धि (8)

आमर्य, क्वेल, जल्ल, मल, विङ्, सर्व, दृष्टिनिर्विष, आस्याविष

6 रस ऋद्धि (6)

आशीर्विष, दृष्टिविष, क्षीरसावी, मधुसावी, घृतसावी, अमृतसावी

7. क्षेत्र ऋद्धि (2)

अक्षीणमहानस, अक्षीणमहालय

● आहार के छ्यातीस दोष-

1 उद्गग्म दोष (16)

अध्यधि, अनिसृष्ट, अभिहत, आच्छेद, अघ कर्म, उद्भिन्न, क्रीत, परावर्त, प्रादुष्कर, प्रामृत, प्रामृष्य, पूति, मालारोहण, मिश्र, बलिशेष, स्थापित

2. उत्पादन दोष (16)

धात्री, दूत, निमित, आजीव, वनीपक, चिकित्सा, क्रोध, मान, माया, लोभ, पूर्वस्तुति, पश्चात्स्तुति, विद्या, मन्त्रोद्पादन, मूलकर्म

3. अशन दोष (10)

शंकित, म्रक्षित, निक्षिप्त, पिहित, सव्यवहरण, दायक, उन्मिश्र, अपरिणत, लिप्त, त्यक्त

4. सयोजना आदि (4)

सयोजना, प्रमाण, अगार, धूम

● वर्तीस अतराय-

—काक, अमेघ्य, छर्टि (वमन), रुधिर, अश्रुपात, जान्वय परामर्श, जानुव्यतिक्रम, नाभ्यधोनिर्गमन, काकादिपिण्डहरण, पाणिपिण्डपतन, पाणिजन्तुवध, मासादिदर्शन, उपसर्ग, जीवसपात, भोजनसपात, उच्चार, प्रस्त्रवण, अभोज्यगृह प्रवेश, पतन, उपवेशन, सदश, भूमिस्पर्श, निष्ठीवन, उदरकृपिनिर्गम, अदत्तग्रहण, प्रहार, ग्रामदाह, पाद-ग्रहण, करेणकिंचित्प्रग्रहण, रोधन, प्रत्याख्यान-सेवना, जन्तुवध

● पंच परमेष्ठी—

● अर्हन्त-46 मूलगुण

1. अरन्त चतुष्पद्य (4)

अनन्त ज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य

2. अष्ट प्रतिहार्य (8)

अशोकचृक्ष, पुष्पवृट्टि, दुन्दुभि, सिहासन, दिव्य-ध्वनि, तीन-छत्र, चपर, प्रभामण्डल

3. अतिशय (34)

जन्मकालीन—। मलमृत्र रहित शरीर का होना

—२ पसीना रहित शरीर होना

—३ दूध के समान इवंत रुधिर होना

—४ वज्रवृपभनाराच सहनन होना

—५ समचतुरस्र सस्थान होना

—६ अत्यत सुदर रूप होना

- 7 अतुल्य-वल होना
 - 8 शरीर मे 1008 श्रुत लक्षण होना
 - 9 अति सुगधमय शरीर होना
 - 10 हितमितप्रिय वचन बोलना
- केवलज्ञानकालीन—1 पलक नहीं अपकना
- 2 नख व केशों का नहीं बढ़ना
 - 3 कवलाहार का नहीं होना
 - 4 समस्त विधाओं का स्वामीपना होना
 - 5 शरीर को छाया नहीं पड़ना
 - 6 चारों ओर मुख दिखार्ड देना
 - 7 सो योजन तक सुभिक्ष होना
 - 8 उपसर्ग आदि नहीं होना
 - 9 अदया का अभाव होना
 - 10 आकाश मे गमन होना
- देवकृत—1 अर्द्धमागधी भाषा का होना
- 2 समस्त जीवों मे परस्पर मित्रता होना
 - 3 सब ऋतुओं के फल-फूल का एक साथ फलना
 - 4 पृथ्वी का दृष्टि सा निर्मल होना
 - 5 सब जीवों का आनन्दमग्न होना
 - 6 भूमि का निष्कटक होना

- 7 सुर्गांधित जल की वृष्टि होना
- 8 चलते समय भगवान के चरणों में सुवर्ण कमलों की रखना होना
- 9 मद सुर्गांधित वायु का वहना
- 10 आकाश का स्वच्छ (भैंध रहित) होना
- 11 दिशाओं का निर्मल होना
- 12 आकाश में जय-जय ध्यनि होना
- 13 भगवान के आगे धर्मचक्र का चलना
- 14 छत्र, चमर आदि अष्ट मगल द्रव्यों का साथ चलना

● सिद्ध-8 मूलगुण-

क्षायिकसम्यक्त्व, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य, अव्याबाधसुख, अवगाहनत्व, अगुरुलघुत्व, सूक्ष्मत्व

● आचार्य-(36) मूलगुण

1. तप (12)

बाह्य तप (6)—अनशन, अवमोदर्य, वृत्ति परिसख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशत्यासन, कायकलेश

आभ्यन्तर तप (6)—प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग, ध्यान

2. धर्म (10)

उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम सयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिञ्चन्य, उत्तम ब्रह्मचर्य

३ पचाचार (5)

दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार, वीर्याचार

४ आवश्यक (6)

सामायिक, स्तुति (स्तवन), वदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग

५. गुप्ति (3)

मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्ति

● उपाध्याय (25) मूलगुण

ग्यारह अङ्ग और चौदह पूर्व (दे श्रुतज्ञान)

● साषु (28) मूलगुण

समिति (5)

ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण, प्रतिष्ठापन

महाब्रत (5)

अहिसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह

इन्द्रिय विजय (5)

स्पर्शन, रसना, प्राण, चक्षु और श्रोत्र-इन्द्रिय-विजय

आवश्यक (6)

सामायिक, स्तुति, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग

सात शेष गुण

अचेलकत्व, अदन्तधोवन, अस्तान, एक-भक्त, स्थिति-भोजन,
केशलौच, क्षितिशयन

● कर्म-प्रकृति (8)

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र,
अन्तराय

ज्ञानावरणीय (5)

मतिज्ञानावरणीय, श्रुतज्ञानावरणीय, अवधिज्ञानावरणीय,
मन पर्यज्ञानावरणीय, केवलज्ञानावरणीय

दर्शनावरणीय (9)

चक्षुदर्शनावरणीय, अचक्षुदर्शनावरणीय, अवधिदर्शनावरणीय,
केवलदर्शनावरणीय, निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला, स्त्यानगृह्णि

वेदनीय (2)

साता वेदनीय, असाता वेदनीय

मोहनीय (28)

दर्शनमोहनीय—पिथ्यात्व, सम्प्रक्रिमिथ्यात्व, सम्प्रकृत्य

चारित्रमोहनीय कषाय (16)

अनतानुबधी क्रोध, मान, माया, लोभ अप्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया,
लोभ, प्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ, सञ्चलन क्रोध, मान, माया,
लोभ

अकषाय (नो-कषाय)

हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुष वेद, नपुसक
वेद

आयु (4)

दंवायु, नरकायु, तिर्यचायु, मनुष्यायु

नामकर्म (93)

गति नामकर्म—मनुष्यगति, तिर्यचगति, दंवगति, नरकगति

जाति नामकर्म—एकन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पचेन्द्रिय

शरीर नामकर्म—ओदारिक शरीर, वैक्रियिक शरीर, आहारक शरीर, तेजस शरीर, कार्मण शरीर

वधन नामकर्म—ओदारिक शरीर वधन, वैक्रियिक शरीर वधन, आहारक शरीर वधन, तेजस शरीर वधन, कार्मण शरीर वधन

सघात नामकर्म—ओदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तेजस, कार्मण शरीर सघात

वर्ण—श्वत, रुधिर, कृष्ण, नील, पीत

गन्ध—सुरभि, दुरभि

स्पर्श—कर्कश नाम, मृदक नाम, गुरुक नाम, लघुक नाम, स्तिंग्ध नाम, स्क्ष नाम, शीत नाम, उष्ण नाम

सस्थान—समचतुरस्स, न्यग्रोधपरिमडल, स्वाति, वामन, कुञ्जक, हुडक सस्थान

सहनन—वज्रबृष्टभनाराच, वज्रनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलक, असप्राप्तासृपाटिका

अङ्गोपाग—ओदारिक, वैक्रियिक, आहारक शरीर अङ्गोपाग

आनुपूर्वी—नरकगत्यानुपूर्वी, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, तिर्यचगत्यानुपूर्वी,

देवगत्यानुपूर्वी

विहायोगति—प्रशस्त ओर अप्रशस्तविहायोगति, अगुरुलघुनाम, उपधात, परधात, उच्छ्रवास, आतप, उद्योत, त्रस, स्थावर, बादर, सूक्ष्म, पर्याप्ति, अपयाप्ति, प्रत्येक-शरीर, साधारण-शरीर, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुभग, दुर्भग, सुस्वर, दुस्वर, आदेय, अनादेय, यश. कीर्ति, अयश कीर्ति, निर्माण, तीर्थकर

गोत्रकर्म (2)

उच्चगोत्र, नीचगोत्र

अन्तराय (5)

दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय, वीर्यान्तराय

• शलाका पुरुष (63)–

तीर्थकर (24)

ऋषभदेव, अजितनाथ, सभवनाथ, अभिनन्दननाथ, सुमतिनाथ, पद्मप्रभु, सुपार्श्वनाथ, चन्द्रप्रभु, पुष्पदन्त, शीतलनाथ, श्रेयासनाथ, वासुपूज्य, विमलनाथ, अनन्तनाथ, धर्मनाथ, शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अरनाथ, मल्लिनाथ, मुनिसुव्रतनाथ, नमिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, महार्वार स्वामी

चक्रवर्ती (12)

भरत, सगर, मधवा, सनत्कुमार, शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अरनाथ, सुभौम, महापद्म, हरिषंण, जयसेन, व्रद्धदत्त

नारायण (9)

त्रिपृष्ठ, द्विपृष्ठ, स्वयम्भू, पुरुषोत्तम, पुरुषसिंह, पुण्डरीक, पुरुषदत्त, लक्ष्मण, कृष्ण

प्रतिनारायण (9)

अश्वग्रीव, तारक, मेरक (मधु), निशुम्भ, मधुकैटभ, वलि, प्रहरण, राघण, जरासन्ध

बलभद्र (9)

विजय, अचल, सुधर्म, सुप्रभ, सुदर्शन, नन्दिषेण, नन्दिमित्र, राम, पद्म

• देवगति के देव (4)

भवनवासी देव (10)

असुरकुमार, नागकुमार, सुर्पणकुमार, द्वीपकुमार, दिक्कुमार, उदधिकुमार, स्तनितकुमार, विद्युत्कुमार, अग्निकुमार, वायुकुमार

व्यन्तर देव (8)

किन्नर, किपुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत, पिशाच

ज्योतिष्क देव (5)

चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, तारागण

वैष्णनिक देव

सौधर्म, ऐशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव, कापिष्ठ, शुक्र, महाशुक्र, सतार, सहस्रार, आनंत, 'प्राणत, आरण, अच्युत (कल्पवासी)

नौ ग्रैवेयक

अधो ग्रैवेयक—सुदर्शन, अमोघ, सुप्रबुद्ध
 मध्य ग्रैवेयक—यशोधर, सुभद्र, सुविशाल
 उर्ध्व ग्रैवेयक—सुमन, सौमनस्य, प्रीतिकर

नौ अनुदिश

आदित्य, अर्चि, अर्चिमालिनी, वज्र, वैरोचन, सौम्य, सौम्यरूपक; अक,
 स्फुटिक

पांच अनुत्तर

विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित, सर्वार्थसिद्धी

• श्रुतज्ञान (2)

अङ्ग-प्रविष्ट, अङ्ग-बाह्य

अङ्ग प्रविष्ट (द्वादशांग)—आचाराङ्ग, सूत्रकृताङ्ग, स्थानाङ्ग, समवायाङ्ग,
 व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्मकथाङ्ग, उपासकाध्ययन, अन्तकृददशाङ्ग,
 अनुत्तरोपपादिक दशाङ्ग, प्रश्नव्याकरण, विपाक सूत्र, दृष्टिवाद

दृष्टिवाद (5)

परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत, चलिका

पूर्व (14)

उत्पाद पूर्व, अग्रायणी पूर्व, वीर्यानुवाद, अस्तिनास्ति प्रवाद, ज्ञान-
 प्रवाद, सत्यप्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्म-प्रवाद, प्रत्याख्यानप्रवाद, विद्यानुवाद,
 कल्याणवाद, प्राणावाय, क्रिया विशाल, लोकविन्दुसार

परिकर्म (५)

चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति, द्वीपसागर-प्रज्ञप्ति,
व्याख्याप्रज्ञप्ति

चूलिका (५)

आकाशगता, जलगता, मायागता, रूपगता, स्थलगता

अङ्ग वाद्य

सामायिक, चतुर्विंशति स्तवन, वन्दना, प्रतिक्रमण, वेनयिक, कृतिकर्म,
दशवेकालिक, उत्तराध्ययन, कल्प्यव्यवहार, कल्प्याकल्प्य, पुण्डरीक,
महापुण्डरीक, निषिद्धिका आदि

● वाईस परीषह

क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दशमशक, नार्न्य, अरति, स्त्री, चर्या,
निषद्या, शयूया, आक्राश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल.
सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान, अदशन

● आस्त्रवकारी क्रियाए

सम्यक्त्व क्रिया, मिथ्यात्व' क्रिया, प्रयाग क्रिया, समादान क्रिया,
ईर्यापथ क्रिया, प्रादायिकी क्रिया, कायिकी क्रिया, अधिकरणिकी
क्रिया, पारितापिकी क्रिया, प्राणातिपातिकी क्रिया, दर्शन क्रिया, स्पर्शन
क्रिया, प्रात्ययिकी क्रिया, समन्तानुपात क्रिया, अनाभोग क्रिया,
स्वहस्त क्रिया, निसग क्रिया, विदारण क्रिया, आज्ञाव्यापादिकी क्रिया,
अनाकाक्ष क्रिया, प्रारभ क्रिया, पारिग्राहिकी क्रिया, मिथ्यादर्शन क्रिया,
माया क्रिया, अप्रत्याख्यान क्रिया।

मुनिश्री क्षमासागर

श्रेष्ठ संत, मनीषी कवि,
प्रवचन में अपूर्व वाग्मिता,
चिन्तक, विज्ञानविद्

जन्म	20 सितम्बर 1957, सागर (मप्र)
शिक्षा	एम टेक सागर विश्वविद्यालय
पूर्वनाम	सिर्घई बीरेन्द्र कुमार
माता	श्रीमती आशादेवी
पिता	जीवन कुमार सिर्घई
क्षुल्लक दीक्षा	नैनागिरी, 10 जनवरी 1980
ऐलक दीक्षा	मुक्तागिरी, 7 नवम्बर 1980
मुनि दीक्षा	नैनागिरी, 20 अगस्त 1982
काव्य संग्रह	(1) पगड़डी सूरज तक (1992) (2) मुनि क्षमासागर की कविताएँ (1996)
अनुवाद	एकीभाव स्रोत
सम्परण	(1) अपूर्त शिल्पी (2) आत्मान्वेषी